* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

मूल्य १० रुपये

भगवान् शंकराचार्य

भगवान् नृसिंहका प्राकट्य

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
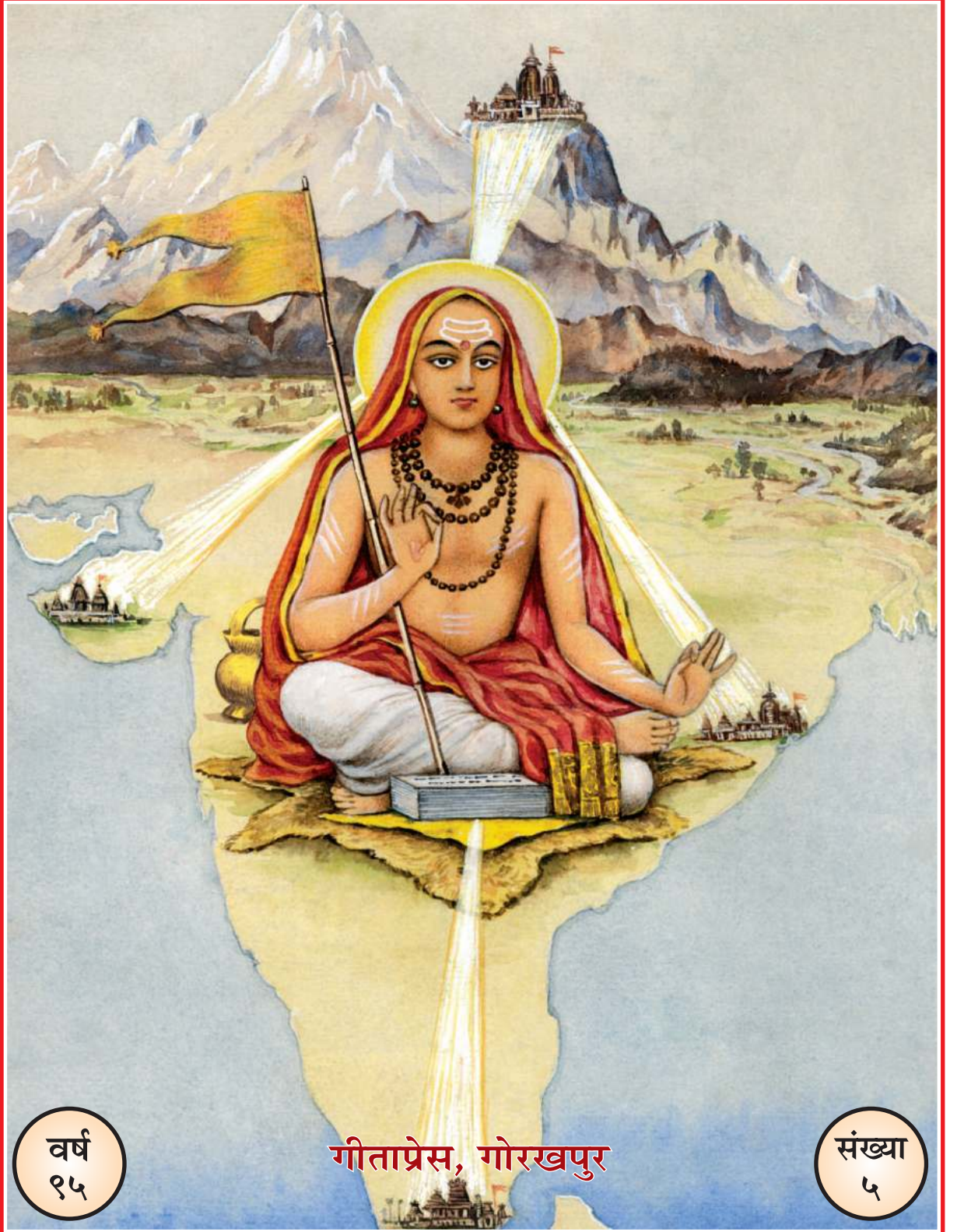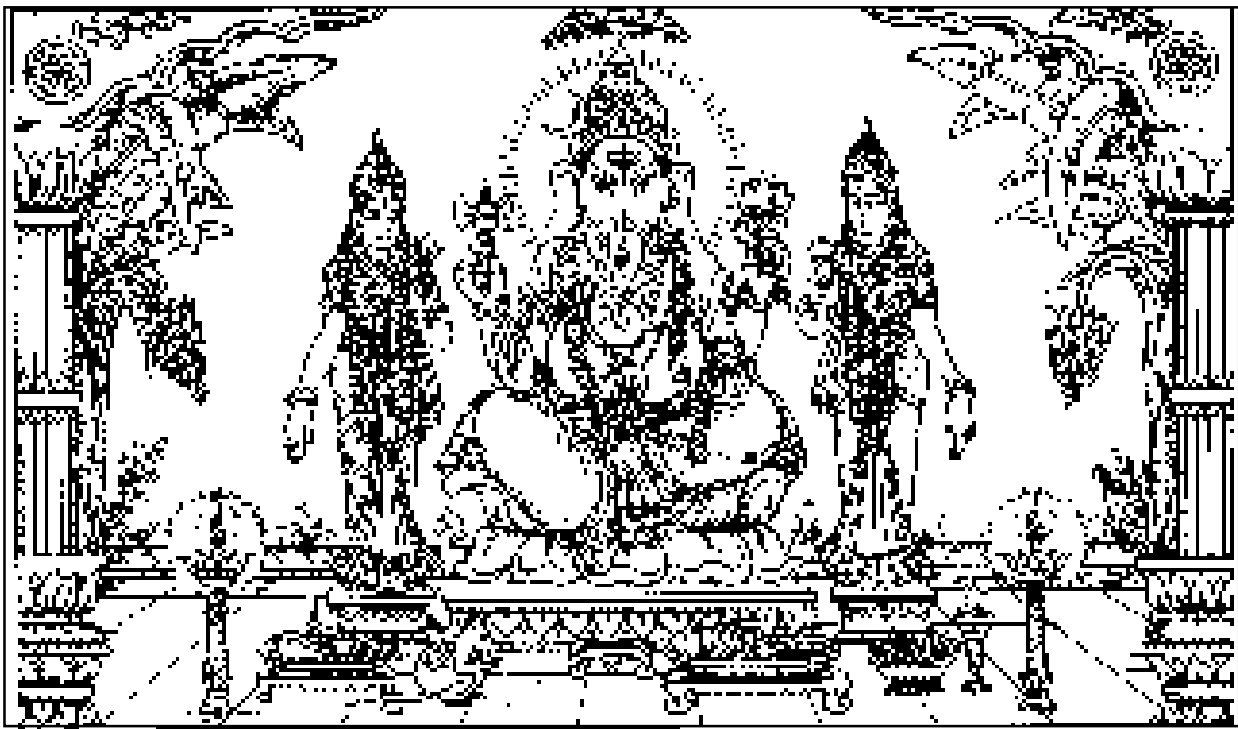
यतो वेदवाचो विकुण्ठा मनोभिः सदा नेति नेतीति यत्ता गृणन्ति।
परब्रह्मरूपं चिदानन्दभूतं सदा तं गणेशं नमामो भजामः॥

वर्ष ९५ | संख्या ५

गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ, वि० सं० २०७८, श्रीकृष्ण-सं० ५२४७, मई २०२१ ई०

पूर्ण संख्या ११३४

भक्त प्रह्लादकी रक्षाके लिये भगवान् नृसिंहका प्राकट्य

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥
स सत्त्वमेनं परितोऽपि पश्यन् स्तम्भस्य मध्यादनु निर्जिहानम्।
नायं मृगो नापि नरो विचित्रमहो किमेतन्नृमृगेन्द्ररूपम्॥

अपने सेवक प्रह्लाद और ब्रह्माजीकी वाणी सत्य करने और समस्त पदार्थोंमें अपनी व्यापकता दिखानेके लिये सभाके भीतर स्थित खम्भेमेंसे बड़ा ही विचित्र रूप धारण करके भगवान् प्रकट हुए। वह रूप न तो पूरा-पूरा सिंहका ही था और न मनुष्यका ही। जिस समय हिरण्यकशिपु शब्द करनेवालेकी इधर-उधर खोज कर रहा था, उसी समय खंभेके भीतरसे निकलते हुए उस अद्भुत प्राणीको उसने देखा। वह सोचने लगा—अहो, यह न तो मनुष्य है और न पशु; फिर यह नृसिंहके रूपमें कौन-सा अलौकिक जीव है! [श्रीमद्भागवत]

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,००,०००)

कल्याण, सौर ज्येष्ठ, वि० सं० २०७८, श्रीकृष्ण-सं० ५२४७, मई २०२१ ई०

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ-संख्या

चित्र-सूची

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

एकवर्षीय शुल्क ₹ २५०

पंचवर्षीय शुल्क ₹ १२५०

विदेशमें शुल्क Air Mail — **वार्षिक** US$ 50 (₹ 3,000); **पंचवर्षीय** US$ 250 (₹ 15,000) — Us Cheque Collection Charges 6$ Extra

संस्थापक—**ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका**
आदिसम्पादक—**नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार**
सम्पादन—**विभागीय**

केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालय के लिये गीताप्रेस, गोरखपुर से मुद्रित तथा प्रकाशित

website : **gitapress.org** | e-mail : **kalyan@gitapress.org** | ✆ **09235400242 / 244**

सदस्यता-शुल्क—**व्यवस्थापक—'कल्याण-कार्यालय', पो० गीताप्रेस—२७३००५, गोरखपुर को भेजें।**
Online सदस्यता हेतु gitapress.org पर **Kalyan** या **Kalyan Subscription** option पर click करें।
अब 'कल्याण' के मासिक अङ्क gitapress.org अथवा **book.gitapress.org** पर नि:शुल्क पढ़ें।

कल्याण

याद रखो—परमात्मा सर्वातीत होते हुए भी सर्वमय हैं। ऐसा कोई देश नहीं, काल नहीं, पदार्थ नहीं, प्राणी नहीं, भाव नहीं, धारणा नहीं, जिसमें नित्य निरन्तर अविच्छिन्न रूपसे परमात्मा विराजमान न हों। सच्ची बात तो यह है, सभी वस्तुएँ वस्तुतः वे ही हैं।

याद रखो—ऐसे सदा सर्वत्र विराजमान सर्वमय परमात्मा होते हुए भी तुम उनको प्राप्त करने—उन्हें प्राप्त करके शाश्वती शान्तिलाभ करनेसे इसीलिये वंचित रहते हो, तुम्हारा लक्ष्य परमात्मा नहीं है। लक्ष्य यदि परमात्मा हो और परमात्मा इस प्रकार सर्वमय हैं, ऐसा विश्वास हो जाय तो फिर चाहे तुम किसी भी सविशेष-निर्विशेष, साकार-निराकार रूपको किसी भी भावनासे क्यों न देखो, तुम्हें परमात्माकी प्राप्ति होगी ही; क्योंकि परमात्मा ही एकमात्र सर्वत्र व्याप्त सर्वरूप सत्य हैं।

याद रखो—तुम्हारा मानव-जीवन केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही है और उनकी प्राप्ति तुम्हारी एकान्त इच्छाके अधीन है। परमात्माकी प्राप्तिमें ही जीवनकी सार्थकता और सफलता है। इसके बिना सभी कुछ व्यर्थ और अनर्थरूप है।

याद रखो—बनना-बिगड़ना, होना-मिटना, संयोग-वियोग—संसारका स्वरूप ही है। इसके पदार्थोंको यदि तुम नित्य बननेवाले, नित्य होनेवाले और नित्य संयोगरूप बनाना चाहोगे तो यह असम्भव है, ऐसा हो ही नहीं सकता—जन्मके साथ मृत्यु यहाँ है ही। और यदि कहीं अपेक्षासे कोई वस्तु अधिक काल स्थायी हो भी गयी तो वह सुखरूप ही होगी, ऐसा नहीं मानना चाहिये। जबतक मनमें अभावकी अनुभूति और अभावपूर्तिकी कामना रहेगी, तबतक किसी भी पदार्थसे कभी सुख होगा ही नहीं। सच्ची बात तो यह है कि पूर्ण, नित्य, सत्य और चेतन परमात्माकी प्राप्तिके बिना जीवके अभावका नाश कभी होता ही नहीं; क्योंकि जीव परमात्माका ही सनातन अंश है, इसलिये स्वाभाविक ही वह पूर्ण, नित्य, सत्य और चेतनको ही चाहता है। अपूर्ण, अनित्य, असत् और जड़ पदार्थोंसे उसका अभाव कैसे मिट सकता है।

याद रखो—यदि तुम जगत्के स्वरूपको न समझकर उसीमें फँसे रहोगे, उसीमें अनुकूलताका अनुसन्धान तथा निर्माण करनेमें लगे रहोगे तो अनुकूलता तो मिलेगी ही नहीं, परमात्माका भजन नहीं होगा और इसलिये तुम्हारा मानव-जीवन ही असफल हो जायगा। अतएव तनिक भी देर न करके जीवनके असली ध्येयकी प्राप्तिमें लग जाओ। यहाँ प्रारब्धवश जैसा जो कुछ होना है, उसे स्वच्छन्दतासे होने दो। उससे वास्तवमें तुम्हारा कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं है। फिर उसे मिटाने और बदलनेके प्रयत्नमें समय क्यों खोना चाहिये। इस जीवनका तो एक-एक क्षण—जीवनके परम लक्ष्य परमात्माकी प्राप्तिमें ही लगना चाहिये।

याद रखो—जीवनका जो क्षण परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें लगता है, वही सार्थक है, वही मूल्यवान् है। तुम अपना सौभाग्य तभी समझो, जब तुम्हारे जीवनके समस्त क्षण परमात्मामें लगते हों। उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, देखते-सुनते—सभी समय परमात्मामें ही मनको लगाये रखनेका प्रयत्न करो। परमात्माकी विस्मृति कभी न हो, उनकी याद करते हुए ही जीवनके सारे कार्य करो और यह निश्चय करो कि परमात्माका स्मरण ही परमात्माकी प्राप्तिका उपाय होनेसे जीवनका सर्वप्रथम और सर्वोपरि कार्य है।

याद रखो—यदि तुम प्रमादवश जीवनको जगत्के व्यर्थ और अनर्थरूप दुःखयोनि भोगोंमें ही लगाये रखोगे तो तुम महामूर्ख हो और तुमको पीछे बहुत अधिक पश्चात्ताप करना पड़ेगा; पर उस समय कोई उपाय तुम्हारे हाथमें नहीं रह जायगा। इसलिये भगवत्कृपासे प्राप्त मानव-जीवनरूप इस सुअवसरको मत खोओ—इसका एक-एक क्षण परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें ही लगाओ, तुम धन्य हो जाओगे और सदाके लिये पूर्ण सुखको प्राप्तकर कृतार्थ हो जाओगे। **'शिव'**

आवरणचित्र-परिचय—

भगवान् शंकराचार्य

भगवान् शंकराचार्यके पिता श्रीशिवगुरुको बहुत दिनोंतक कोई संतान नहीं हुई। अत: उन्होंने अपनी पत्नी श्रीमती सुभद्राजीके साथ भगवान् शंकरकी कठोर तपस्या की। उनकी सच्ची आराधना और दृढ़ निष्ठासे प्रसन्न होकर आशुतोष भगवान् शंकर प्रकट हुए और उन्हें अपने ही समान सर्वगुण-सम्पन्न पुत्र होनेका वरदान दिया। इस प्रकार वैशाख शुक्ल पंचमीको सुभद्रा माताके गर्भसे साक्षात् भगवान् शंकरका ही श्रीशिवगुरुके यहाँ प्राकट्य हुआ। केरल प्रदेशका पूर्णा नदीका तटवर्ती कालडी नामक गाँव इस महान् विभूतिके जन्मसे प्रकाशित हो उठा। भगवान् शंकरके आशीर्वादके फलस्वरूप उत्पन्न होनेके कारण इनका नाम शंकर रखा गया।

भगवान् शंकराचार्यकी विलक्षण प्रतिभा और महानताका परिचय इनके बचपनसे ही मिलने लगा। तीन वर्षकी अवस्थामें पहुँचते-पहुँचते ही इनके पिता परलोकवासी हो गये। पाँच वर्षकी अवस्थामें इन्हें पढ़नेके लिये गुरुकुल भेजा गया। आठ वर्षकी आयुमें ये सम्पूर्ण वेद-शास्त्रोंमें पारंगत होकर घर वापस आ गये। इनकी असाधारण प्रतिभाको देखकर लोग आश्चर्यचकित रह जाते थे। विद्याध्ययन समाप्त करनेके बाद भगवान् शंकराचार्यने संन्यास लेना चाहा, किंतु इनकी माताने अनुमति नहीं दी। एक दिन अपनी माताके साथ ये नदीमें स्नान करने गये। स्नान करते समय इन्हें एक मगरने पकड़ लिया। इन्होंने अपनी मातासे कहा कि यदि आप मुझे संन्यास लेनेकी आज्ञा दे देंगी तो मगर छोड़ देगा। विवश होकर माताको संन्यासकी अनुमति प्रदान करनी पड़ी। जाते समय माताकी मृत्युके समय उपस्थित रहनेका वचन देकर ये संन्यास लेनेके लिये चल दिये।

भगवान् शंकराचार्यने गोविन्दभगवत्पादसे संन्यासकी दीक्षा ली और अल्पकालमें ही योगसिद्ध महात्मा हो गये। गुरुने इन्हें काशी जाकर ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखनेकी आज्ञा दी। काशीमें भगवान् शंकरने इन्हें चाण्डालके रूपमें दर्शन दिया। वहीं इन्हें भगवान् व्यासके भी दर्शन हुए और उनकी कृपासे इनकी सोलह वर्षकी आयु बत्तीस वर्ष हो गयी। व्यासजीने इनको अद्वैतवादका प्रचार करनेकी आज्ञा दी। तदनन्तर इन्होंने सम्पूर्ण भारतका भ्रमण किया और शास्त्रार्थमें विभिन्न मतवादियोंको परास्त करके अद्वैतवादकी स्थापना की। यद्यपि इन्होंने अनेक मन्दिर बनवाये, किंतु चारों धामोंमें इनके चार मठ विशेष प्रसिद्ध हैं। आज भी इनके द्वारा स्थापित मठोंके प्रधान आचार्य शंकराचार्यके नामसे ही जाने जाते हैं। भगवान् शंकराचार्यके द्वारा बनाये ग्रन्थोंमें ब्रह्मसूत्र-भाष्य, उपनिषद्-भाष्य, गीता-भाष्य, पंचदशी आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार बत्तीस वर्षके अल्पकालमें अपने अभूतपूर्व ज्ञानसे संसारको वेदान्तका अभिनव प्रकाश प्रदान करके भगवान् शंकराचार्यने सम्पूर्ण मानव-जातिका अनुपम कल्याण किया। मानवमात्रके कल्याणके लिये उनके द्वारा दिये गये कुछ उपदेश इस प्रकार हैं—

नरक क्या है? परवशता। सुख क्या है? समस्त संगोंका त्याग। सत्य क्या है? जिसके द्वारा प्राणियोंका हित हो। प्राणियोंके प्रिय क्या हैं? प्राण।

अनर्थकारी कौन है? मान। सुखदायक कौन है? सज्जनोंकी मित्रता। समस्त व्यसनोंके नाशमें कौन समर्थ है? सर्वदा त्यागी।

अन्धा कौन है? जो अकर्तव्यमें लगा है। बहिरा कौन है? जो हितकी बात नहीं सुनता। गूँगा कौन है? जो समयपर प्रिय वचन बोलना नहीं जानता।

भगवन्नाम-महिमा

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भगवान्‌के नामकी महिमा अपार है, अपरिमित है। वाणीके द्वारा उसकी महिमा स्वयं भगवान् भी नहीं बतला सकते, तब दूसरा तो बतलायेगा ही क्या? जैसे खेतमें बीज किसी भी प्रकारसे बोया जाय, उससे लाभ-ही-लाभ है, इसी प्रकार भगवान्‌के नामका जप किसी भी प्रकारसे किया जाय, उससे लाभ-ही-लाभ है। श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है—

सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्॥

(६।२।१४-१५)

'महात्मा पुरुष यह बात जानते हैं कि चाहे पुत्रादिके संकेतसे हो, हँसीसे हो, स्तोभ (गीतके आलापके रूप)-से हो और अवहेलना या अवज्ञासे हो, वैकुण्ठभगवान्‌का नामोच्चारण सम्पूर्ण पापोंका नाश कर देता है। जो मनुष्य ऊँचे स्थानसे गिरते समय, मार्गमें पैर फिसल जानेपर, अंग-भंग हो जानेपर, सर्पादिद्वारा डँसे जानेपर, ज्वरादिसे सन्तप्त होनेपर अथवा युद्धादिमें घायल होनेपर विवश होकर भी 'हरि' (इतना ही) कहता है, वह नरकादि किसी भी यातनाको नहीं प्राप्त होता।'

फिर यदि नामका जप मनसे किया जाय तो उसकी बात ही क्या है? क्योंकि मानसिक जपकी विशेष महिमा बतलायी गयी है। श्रीमनुजी कहते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

(२।८५)

'विधियज्ञ (होम)-से उच्चारण करके किया हुआ जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है और उपांशु सौगुना श्रेष्ठ है तथा मानस-जप हजारगुना श्रेष्ठ है।'

नामकी महिमा सभी युगोंमें है, किंतु इस कलिकालमें तो इसकी महिमा और भी विशेष है। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

(विष्णुपु० ६।२।१७)

'सत्ययुगमें ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञ करनेसे, द्वापरमें पूजा करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वही फल कलियुगमें केवल श्रीकेशवके कीर्तनसे मनुष्य प्राप्त कर लेता है।'
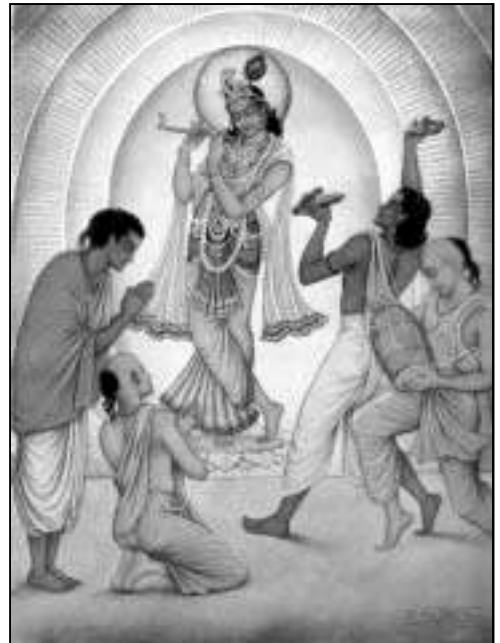
नामका जप यदि ध्यानसहित किया जाय तो सारे विघ्नोंका नाश होकर आत्माका उद्धार हो जाता है। योगदर्शनमें कहा है—

तस्य वाचकः प्रणवः। (१।२७)

'उस परमात्माका वाचक (नाम) ओंकार है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (१।२८)

'उसके नामका जप और उसके अर्थकी भावना यानी स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

(१।२९)

'ऐसा करनेसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है।'

गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

(८।१३)

'जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मेरा चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परमगतिको प्राप्त हो जाता है।'

श्रीभगवान्के अनेक नाम हैं। उनमेंसे किसी भी नामका जप किसी भी कालमें, किसी भी निमित्तसे कैसे भी क्यों न किया जाय, वह परम कल्याण करनेवाला है। यदि भगवान्के नामका जप गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, अर्थ और भावको समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे किया जाय तब तो तत्काल ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि भगवान्के भजनके प्रभावसे साधकको भगवान्के स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, जिससे भगवान्की प्राप्ति होती है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०।१०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

श्रीभगवान् बाहर-भीतर सब जगह व्यापक हैं, परिपूर्ण हैं, किंतु अज्ञानके कारण नहीं दीखते। वह अज्ञान भी भगवान्के नाम-जपके प्रभावसे नष्ट हो जाता है। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

भगवन्नाम-जपके प्रभावसे सारे पापोंका नाश होकर पापी भी परमगतिको प्राप्त हो जाता है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

जबहिं नाम हिरदै धर्‍यो भयो पाप को नास।
मानो चिनगी अगिनि की परी पुरानी घास॥

अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरिनाम प्रभाऊ॥

फिर धर्मात्माकी तो बात ही क्या है? द्रौपदी एवं गजेन्द्रके जैसा प्रेम होनेपर तो सकाम भजनसे भी भगवान् मिल सकते हैं, फिर निष्काम भजनसे भगवान्की प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है। जो मनुष्य हर समय भगवान्के नामका स्मरण करता है, उसके तो भगवान् अधीन ही हो जाते हैं। श्रीगोस्वामीजीने कहा है—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥

यह स्मरण रखना चाहिये कि भगवान्के सभी नाम समान हैं। चाहे जिस नामका जप किया जाय, सभी कल्याण करनेवाले हैं। जैसे पानी, जल, नीर, अप्, वाटर आदि जलके ही विभिन्न नाम हैं और उन सबका एक ही अर्थ है। इसी प्रकार भगवान्के ॐ, हरि, वासुदेव, राम, कृष्ण, गोविन्द, नारायण, शिव, महादेव आदि सभी नामोंका एक ही अर्थ है। अतः किसी भी नामका जप करनेपर भगवत्प्राप्ति हो सकती है। संसारमें भगवन्नाम-जपके समान कोई भी साधन नहीं है। ज्ञान, ध्यान, जप, तप, योग आदि सभी साधन नाम-जपकी अपेक्षा कठिन हैं। अतः इन सब बातोंको सोचकर मनुष्यको नित्य-निरन्तर भगवान्के नामका जप और कीर्तन करना चाहिये। भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

(९।३३)

'इसलिये तू सुखरहित और क्षणभंगुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

वस्तुतः संसारमें भगवान्के समान कोई भी पदार्थ नहीं है; क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भगवान्के एक अंशमें है। जो इस तत्त्वको जान लेता है, वह एक क्षण भी भगवान्को नहीं भूल सकता। भगवान्ने गीतामें कहा है—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(१५।१९)

'हे भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

इसलिये हमलोगोंको उचित है कि भगवान्के शरण होकर भगवन्नामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, अर्थ और भावको समझकर श्रद्धाभक्तिपूर्वक निष्काम प्रेमभावसे, ध्यानसहित, गुप्तरूपसे भगवान्के नामका मानसिक जप नित्य-निरन्तर करें।

जीवनका लक्ष्य और उसकी प्राप्ति

(ब्रह्मलीन जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज)

सबसे प्रथम मानवको अपने जीवनका लक्ष्य निश्चित करना चाहिये। जबतक यह निश्चित नहीं होगा, तबतक उसकी कोई क्रिया सफल नहीं होगी। जिसने अपने गन्तव्य स्थानका निश्चय नहीं किया, वह सतत चलकर कहाँ पहुँचेगा? वह यह भी नहीं कह सकता। अतः यह सर्वप्रथम निर्णय करना होगा कि अनन्त कालसे प्रारम्भ हमारी इस जीवन-यात्राका गन्तव्य स्थान क्या है? साथ ही वह ऐसा होना चाहिये, जहाँ पहुँचकर मुझे अनन्त विश्राम प्राप्त हो तथा फिर कभी चलनेका प्रयास न करना पड़े। ऐसा स्थान खोजनेपर तो भगवान्‌के शब्दोंमें भगवान् ही हैं, दूसरा कोई नहीं। भगवान् कहते हैं कि मुझ सच्चिदानन्द परमात्माको प्राप्तकर प्राणी परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है। तब वह अनित्य और दुःखरूप जन्मको फिर नहीं प्राप्त करेगा। अर्थात् ऐसी अवस्थामें अनन्त कालपूर्व प्रारम्भ की गयी उसकी जन्म-मरणरूप यात्रा समाप्त हो गयी—**'मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥'** (गीता ८।१५)

इसी प्रकार श्रीमद्भागवतका भी कहना है कि यही बुद्धिमानोंकी बुद्धि है तथा यही मनीषियोंकी सदसद्विवेकिनी मनीषा है कि इस अनृत एवं मरणशील शरीरसे सत्य और अमृतरूप मुझे प्राप्त कर ले—

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति माऽमृतम्॥

(श्रीमद्भा० ११।२९।२२)

अतः शास्त्रों एवं सत्पुरुषोंके आचरणसे यही सिद्ध होता है कि मानव-जीवनका एकमात्र लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है।

अब उन्हीं शास्त्रोंसे उसकी प्राप्तिका उपाय भी जानना चाहिये। भगवान्‌की प्राप्तिमें देहात्मवाद सबसे बड़ा बाधक है। अर्थात् देहको ही आत्मा मान लेना और उसीके सुख-दुःखमें अपनेको सुखी-दुखी मानना। इसीलिये शास्त्र देहसे ममता हटानेके लिये कहते हैं। जीवनके सत्य लक्ष्यकी प्राप्ति करनेवालोंके लिये उचित है। वे शरीरमें जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि दुःख एवं दोषोंका सतत दर्शन करें—

'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्' जिससे उसकी देहात्मवादकी बुद्धिका निरास हो। देहात्मवादका निरास होनेपर जब वह अशरीरावस्थामें आ जायगा तो उसे प्रिय-अप्रिय अर्थात् सुख-दुःखका भान नहीं होगा—

'अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' इसके लिये सर्वप्रथम चित्तको जीतना पड़ेगा। चित्तके वशमें न होनेवालोंकी बड़ी महत्ता बतायी गयी है।

एतावति धरणितले सुभगास्ते साधुचेतनाः पुरुषाः।
पुरुषकथासु च गण्या न जिता ये चेतसा स्वेन॥

इस धरणीतलपर वे ही पुरुष सौभाग्यशाली तथा विचारशील हैं और उन्हीं सत्पुरुषोंकी कथाओंमें गणना होती है, जो अपने चित्तसे न जीते गये हों। अर्थात् जिनका चित्त वशमें है, वस्तुतः बिना चित्तको वशमें किये ऐहलौकिक, पारलौकिक कोई भी कार्य सम्यक् सम्पन्न नहीं हो सकता। शास्त्र तो वानर और नरमें यही भेद बताते हैं। मन जहाँ जाय वहाँ जानेवाले अर्थात् मनके पराधीन रहनेवाले 'वानर' हैं और मनको वशमें करके बुद्धिके द्वारा विचारकर चलनेवाले 'नर' हैं—

मनांसि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः।
बुद्धयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वै नराः॥

संसार-चक्रका प्रवर्तक एकमात्र चित्त ही है, इसीपर मायाका प्रभाव पड़ता है।

चित्तं नाभि किलास्येदं मायाचक्रस्य सर्वतः।
स्थीयते चेत्तदाक्रम्य तन्न किंचित् प्रबाधते॥

इस मायाचक्रकी नाभि (मध्यप्रदेश) चित्त है, उसे दबाकर रहनेवालोंपर अर्थात् उसको वशमें रखनेवालोंपर मायाचक्रका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः जीवनके लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये मानवको सब प्रकारसे चित्तपर अधिकार प्राप्त करना चाहिये। अदृष्टसे दृष्टका निर्माण होता है। अन्ततः पुण्य-पाप अदृष्ट ही हैं, उन्हींसे दृष्ट शरीर बनता है। प्राणियोंके अदृष्टसे ही क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर—ये पाँचों मिलकर सृष्टिके रूपमें परिणत हो जाते हैं। जैसे स्वर्णकार बने हुए

कटक-कुण्डलोंको तोड़कर स्वर्णको अन्य आभूषणोंके रूपमें परिणत कर देता है, वैसे ही मानवके पुण्य-पापकर्मोंके वश स्थूल-शरीर अन्य-अन्य शरीरोंके रूपमें परिणत होते रहते हैं, स्थूल शरीरमें कर्तृत्व-भोक्तृत्वाभिनिवेश होनेसे हुए कर्मका फल भोगना ही पड़ता है। इसीलिये भगवान्ने कहा है—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

अनेक प्रकारके चित्तविकारोंसे विभ्रान्त, मोहरूपी जालसे समावृत, विषयोंके भोगमें अत्यन्त आसक्त असुर स्वभाववाले मनुष्य अपवित्र नरकमें पड़ते हैं। अतः शास्त्रोंके द्वारा शुभकर्मोंको जानकर और कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अभिमान छोड़कर भगवदर्पणबुद्धिसे कर्म करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्ध अन्तःकरण भगवत्प्राप्तिमें सहायक होता है।

हिरण्यगर्भलोकपर्यन्त सभी लोकोंसे मानवको मृत्युलोकमें लौट आना पड़ता है, केवल भगवान्को ही प्राप्त कर लेनेपर जनन-मरणलक्षणा संसृति मिटती है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

अतः जीवनके परम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिको चाहनेवालोंको हिरण्यगर्भलोकतककी इच्छाका परिहार करना चाहिये। इन उत्तमोत्तम लोकोंकी प्राप्तिके लिये कर्मोंका अनुष्ठान न करके एकमात्र भगवत्प्रसन्नताके लिये ही कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये। देहाभिमान रहनेपर अनुष्ठित कर्मोंका फल अवश्य भोगना पड़ता है। व्यासजीने धृतराष्ट्रके अन्धे होने एवं उनके सौ पुत्रोंके नष्ट होनेके कर्मविपाकको बताया है कि 'धृतराष्ट्र' आप पूर्वजन्ममें मानसहंसके सौ बच्चोंको खा गये थे। उसीसे संकुपित होकर उसने आपको शाप दे दिया कि जाओ तुम दूसरे जन्ममें अन्धे होगे तथा तुम्हारे सौ पुत्र मारे जायँगे। अतः शास्त्रविधिके अनुसार कर्मोंको भगवदर्पण-बुद्धिसे करनेसे तथा सर्वप्रकारसे भगवान्की शरण जानेसे भगवान्की कृपा प्राप्त होती है और उसीसे मानव अपने जीवनके परम लक्ष्यको प्राप्त कर सकता है। भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

भारत! संसार-समुद्रको पार करनेके लिये प्राणियोंके एकमात्र आश्रय ईश्वरकी मनसा, वाचा, कर्मणा शरणमें जाओ। उसी ईश्वरके अनुग्रहसे ब्रह्मज्ञानरूप पराशान्तिको प्राप्त करोगे।

जो मानव अपने जीवनके चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिको चाहते हैं, उसके लिये गूढ़तम उपाय बताये गये हैं, जिन्हें स्वयं भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि अर्जुन, सभी गोपनीयोंमें गोपनीय तथा परम उत्कृष्ट बात मैं तुमसे कहता हूँ, सुनो! यह मैं सबसे नहीं कहता, तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इसीलिये तुमसे यह परम हितकारी वचन कहता हूँ—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

वह क्या परम गोपनीय तथा हितकर वचन है? इसपर कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

मुझ वासुदेवमें ही मन लगा रहता है जिसका, उसको '**मन्मना**' कहते हैं, अर्थात् मुझे ही सोचो। यहाँ कहा जा सकता है कि द्वेषसे तो कंस, शिशुपाल भी भगवान्को ही सोचते थे, वैसे ही क्या साधक भी करे? इसपर कहते हैं, नहीं—'**मद्भक्त**'—प्रेमसे मुझमें अनुराग होना चाहिये, द्वेषसे नहीं। अर्थात् अनुरागसे सदा मुझमें मन लगाओ। यदि साधक कहे कि आपमें अनुराग ही कैसे होगा? इसपर कहते हैं—'**मद्याजी**' मेरे पूजनका ही स्वभाव हो गया जिसका, ऐसे होओ, अर्थात् सदा मेरी पूजामें रहो। यदि पूजाकी सामग्री न हो, तो '**मां नमस्कुरु**' अर्थात् मन, वाणी और शरीरसे अत्यन्त विनम्र होकर मुझे प्रणाम ही किया करो। इस प्रकार सदा भागवत धर्मका अनुष्ठान करनेसे मुझमें अनुराग उत्पन्न होगा, फिर साधक मन्मना होगा, फिर मन्मना होकर मुझ वासुदेवको प्राप्त हो जायगा, इसमें कोई सन्देह करनेकी बात नहीं। मैं यह तुमसे प्रतिज्ञा कर रहा हूँ। अर्जुन, तुम मेरे प्रिय हो, इससे मैं तुमसे झूठ नहीं कह सकता। भगवान्के इस अत्यन्त गुह्य एवं परम हितकारी वचनके अनुसार चलनेवाले साधकको अवश्य अपने जीवनका लक्ष्य प्राप्त हो जाता है।

संसारसे नहीं, भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ो

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

सारे जगत्‌के अपनत्व, बन्धुत्व आदिके प्रति मनुष्यकी ममता जब नहीं छूटती, तब भगवान् कृपा करके ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देते हैं, जिससे उसे उनसे मुक्ति मिल जाय, उस ममताके बन्धनसे छूटनेके लिये वह विवश हो जाय और जब उस ममतासे वह छूटता है, तब उसकी आँख खुलती है और वह सोचता है कि मैं धोखा खा रहा था। मुझे 'मेरा-मेरा' करनेवाले सब पराये ही रहे। सब समय धोखा ही देनेवाले रहे। संसारका यह नियम ही है कि सांसारिक लोग सफलताके साथ चलते हैं और असफलताकी गन्ध आते ही सब-के-सब धीरेसे सरक जाते हैं। फिर ढूँढ़नेपर भी उनका पता नहीं चलता। सुखके समय जो प्रगाढ़ मैत्रीका प्रदर्शन करता था, तब वैसा प्रेम नहीं दिखाता। उस समय केवल भगवान् ही दीखते हैं और वे बड़े ही मधुर एवं स्नेहपूरित शब्दोंमें कहते हैं—'भाई! निराश मत हो, मेरे पास आओ।' सच बात तो यह है कि अपने परम सुखद अंकमें लेनेके लिये ही वे ऐसा करते हैं। अपनानेके लिये ही वे उसे जगत्‌से निराश करते हैं। फिर भी हम भूल करते हैं। हम धनमें, मानमें, कीर्तिमें, जगत्‌की प्रत्येक सफलतामें भगवान्‌की कृपाका अनुभव करे, यह अत्युत्तम है; किंतु दीनता, दुःख, अभाव, अकीर्ति और असम्मानकी स्थितिमें हमें उनकी मधुर मंगलमय कृपाका विशेष अनुभव करना चाहिये।

एक विधवा बहिन हैं, अच्छे घरकी हैं। भगवान्‌की प्रेमी हैं, भजन करती हैं। उन्होंने बताया कि 'मैं परिवारमें रहती, मेरे बाल-बच्चे होते, देवरानियों-जेठानियोंकी भाँति मैं वस्त्राभूषण पहनती, इस प्रकार मैं संसारमें रम जाती, भजन करनेकी जैसी सुविधा और मन आज है, वैसा तब नहीं रहता। यह भगवान्‌की कृपा थी, जिसने मुझे जगत्‌के सारे प्रलोभन और सारे विषयोंसे दूर कर दिया, हटा दिया और इधर लगनेका सुअवसर दिया।' वास्तवमें यही बात है। भगवान्‌की दी हुई वह विपत्ति हमारे लिये परम मंगलमयी है, जिसने हमें भगवान्‌में लगा रखा है। मनुष्य अमुक-अमुक प्रकारके वस्त्र पहननेको, अमुक-अमुक प्रकारके मकानमें रहनेको, अमुक प्रकारके भोजन करनेको और लोग मुझसे अमुक प्रकारसे बात करें, इसको, तथा ऐसे ही अन्यान्य सांसारिक सुविधाओंको सुख मान रहा है; पर वस्तुतः वह सुख नहीं है। किसीने आपको आदरसे बुलाया और किसीने दुत्कार दिया—ये दोनों शब्द ही हैं। इससे कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। किसीने पाँच सम्मानकी बातें कह दीं और किसीने पाँच गालियाँ दे दीं। यद्यपि गाली देनेवालेने अपनी हानि अवश्य की, पर यदि आपके मनमें मानापमानकी भावना न हो, तो आपका उससे कुछ नहीं बिगड़ा। किंतु हमलोगोंने एक कल्पना कर ली। जगत्‌में हमारी कितनी अप्रतिष्ठा हो गयी, कितने हम अपदस्थ हो गये—हमें नित्य बड़ा भारी डर लगा रहता है। जरा-सी निन्दा होने लगती है, तो हम डर जाते हैं, काँप उठते हैं। पर भगवान् यदि जानते हैं कि निन्दासे ही इसका गर्व-ज्वर उतर सकेगा तो वे चतुर चिकित्सकके द्वारा कड़वी दवा दी जानेकी भाँति उसकी निन्दा करा देते हैं। निन्दा, अपमान, अकीर्ति, तिरस्कार, अप्रतिष्ठा तथा लांछन आदिके अवसरोंपर यदि हम भगवान्‌की कृपा मान लें, तो कृपा तो वह है ही; पर हमें तो अवकाश ही नहीं है कि हम इसपर विचार भी कर सकें। जबतक सफलता है तबतक मिथ्या आदर है, पर हम मानते हैं कि 'हमें अवकाश कहाँ है, कितना काम है, हमारे बहुत-से प्रिय सम्बन्धी हैं, कितने मित्र हैं, कितने बन्धु-बान्धव हैं, कहीं पार्टी है, कहीं मीटिंग है, कहीं खेल है, कहीं कुछ है। सब लोग हमें बुलाते हैं, वहाँ हमें जाना ही है। क्या करें।' इत्यादि। पर भगवान् तनिक-सी कृपा कर दें, लोगोंके मनमें यह बात आ जाय कि इसके बुलानेसे बदनामी होगी,

तो आज सब बुलाना बन्द कर दें। मुँहसे बोलनेमें भी सकुचाने लगें। भगवान्‌ने तनिक-सा उपाय कर दिया कि बस, अवकाश-ही-अवकाश मिलने लगा।

सन्त कबीरको इसी प्रकार लोगोंने बुलाना छोड़ दिया था। पास बैठनेसे निन्दा हो जायगी, इतना जानते ही लोग पास बैठना छोड़ देंगे। संसार तो वहीं रहता है, जहाँ कुछ पानेकी आशा रहती है। वह पानेकी वस्तु चाहे प्रशंसा ही क्यों न हो, जहाँ कुछ पाना नहीं, वहाँ संसार क्यों जायगा, फिर तो लोग दूर ही रहेंगे।

एक बहुत बड़े धनी हैं, मानी हैं, उनके साथ बैठनेको मिल जाय, वे अपने साथ बैठा लें, कितनी प्रसन्नता होती है। यश जो बढ़ता है, और कहीं वे हमारे घर आ जायँ, तब तो 'ओ हो हो! कितने भाग्यवान् हैं हम। इतने बड़े आदमी हमारे घर आये।' यह बड़ाई पानेका रोग है। मान पाना, बड़ाई पाना, यश पाना, धन पाना, आराम पाना—कुछ भी, जहाँ पानेकी इच्छा है और जहाँ यह पूरी होती है, वह हम सब चाहते हैं, वहाँ हम सब जाते हैं। पर जहाँ यह पानेकी इच्छा पूरी न हो, कुछ देना पड़े, कुछ त्याग करना पड़े, चाहे मानका ही त्याग करना पड़े, कुछ बदनामी मिले, वहाँसे आदमी हट जाता है, कहता है यहाँ मेरा क्या काम। फिर जगत्‌वाले सब अलग हो जायँगे, जब उनको पानेकी कोई आशा नहीं रह जायगी। अपने घरके प्राणप्रिय व्यक्तियोंके मनमें भी, जिनके लिये लोग प्राण देते रहते हैं, ऐसी बात आ जाती है। पिता कमाते थे, उनसे कुछ मिलता था। बड़े पूज्य थे, पर जब उनसे कुछ भी मिलनेकी आशा नहीं रहती, सेवा-शुश्रूषा करनी पड़ती है, तब पुत्र भी सोचने लगता है—'अब तो ये वृद्ध हो गये। बड़ा कष्ट है इन्हें', दूसरे शब्दोंमें 'ये मर जायँ तो अच्छा है।' अपने परिवारवालोंको जाने दीजिये, अपना ही शरीर दो-चार वर्ष रुग्ण रह जाता है, ओषधि खानेपर भी अच्छा नहीं होता है, तो निराशा हो जाती है और मनमें आता है कि शरीर छूट जाय तो अच्छा हो। साथ रहनेवाले मित्र, बन्धु-बान्धव तरह-तरहकी बातें कहने लगते हैं। 'घर नरक हो गया, रहना तो यहीं है, क्या किया जाय, बड़ा दुःख है।' वे लोग उसके साथ रहनेमें सुख नहीं मानते। उस समय मित्रता नहीं रह जाती। बन्धुता विलीन हो जाती है। सारा प्रेम और सारी आत्मीयता हवा हो जाती है। ऐसे अवसर भगवान् मनुष्यको चेतनेके लिये ही देते हैं। भगवान् क्या करते हैं? मनुष्य जिसे-जिसे सुखकी सामग्री मानता है, उसे मिटा डालते हैं। सुखकी सारी सामग्रियोंको तहस-नहस कर डालते हैं और जहाँ सुखकी सामग्री मिटी कि सब झंझट मिटा। जहाँतक चीलकी चोंचमें मांसका टुकड़ा है, वहींतक कौए-चील उसके पीछे-पीछे उड़ते हैं, जहाँ मांसका टुकड़ा गिरा कि उससे दूर भागे। जगत्‌की वस्तुएँ मांसके टुकड़ेकी तरह हैं और सारे मनुष्य कौएकी तरह हैं। भागवतमें आता है अवधूतने चीलसे यही शिक्षा ली। मान नहीं रहे, धन नहीं रहे, स्वास्थ्य नहीं रहे, यश नहीं रहे, मकान नहीं रहे, नौकर-चाकर नहीं रहे, खानेको न रहे, तो फिर कौन पास आयेगा? पर यदि कोई बुद्धिमान् हो तो निश्चय ही सोचेगा कि भगवान्‌ने कितनी कृपा की कि मेरे जितने गिरनेके अवसर थे, सबको हटा लिया।

ईश्वर-प्रणिधानकी साधना

(श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

एक थी स्त्री, भोली-भाली, सीधी-सादी, एकदम सरल। वह अपना हर काम कृष्णार्पण कर देती थी।

यहाँतक कि चौका लीपनेपर जो गोबर बच जाता, उसका भी गोला बनाकर बाहर फेंक देती— 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु'। वह गोला जा चिपकता भगवान्‌की मूर्तिपर। पुजारी बेचारा हैरान मूर्तिको धोते-धोते। एक दिन वह स्त्री बीमार पड़ी। मृत्युको निकट आते देख उसने उसे भी (मृत्युको भी) कृष्णार्पण कर दिया। बस, क्या था? उसी समय मन्दिरकी मूर्ति खण्ड-खण्ड होकर गिर पड़ी! स्वर्गसे विमान आया उस स्त्रीको लेने। उसे भी कृष्णार्पण कर दिया। विमान भी मन्दिरसे टकराकर चूर-चूर हो गया।

× × ×

कैसी हृदयस्पर्शी कहानी है!

बचपनमें विनोबाने मातृमुखसे यह कहानी सुनी थी। इसीकी चर्चा करते हुए वे 'गीताप्रवचन'में गीताके नौवें अध्यायका २७वाँ श्लोक उद्धृत करते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

तुम जो कुछ करो, सब ज्यों-का-त्यों भगवान्‌को अर्पित कर दो। जो कुछ भले-बुरे कर्म हमसे बन पड़ें, उन सबको ईश्वरार्पण कर देनेसे उनमें कुछ और ही सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है।

गुड़हलका वह मामूली-सा फूल, बेलकी पत्तियाँ, तुलसीकी मंजरी और दूबके तिनके—इन्हें तुच्छ मत मानो—***'तुका म्हणे चवी आलें जेंका मिश्रित विट्ठल!'*** 'तुका' (संत तुकाराम) कहता है कि जो भी राम-मिश्रित हो जाता है, उसमें स्वाद आ जाता है।

ईश्वरार्पणका रहस्य बताते हुए विनोबा कहते हैं—

'कर्म तो करना है; किंतु फल प्रभुको अर्पित करना है। फलका विनियोग चित्तशुद्धिके लिये करना है। यहाँतक कि मनमें उत्पन्न होनेवाली वासनाएँ और कामक्रोधादिक विकार भी परमेश्वरको अर्पित करके छुट्टी पाना है। ***'काम क्रोध आम्हीं वाहिले विट्ठलीं।'*** (काम-क्रोध मैंने प्रभुके अर्पित कर दिये हैं।)

यहाँ न संयमाग्निमें जलना है, न झुलसना। चट अर्पण किया और छूटे। न किसीको दबाना, न किसीको मारना। केवल श्रीकृष्णार्पणमस्तु!

कैसी बढ़िया है यह उक्ति! इसीका नाम है— ईश्वर-प्रणिधान। प्रणिधान किसका?—ईश्वरका। ईश्वर कौन? —पतंजलि (योगदर्शन १। २४—२६)-के अनुसार ईश्वर है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

जो क्लेश, कर्म, उनके फल और वासनाओंसे अछूता, निर्लिप्त, सर्वज्ञ, कालातीत और गुरुओंका भी गुरु-परमगुरु है, वही ईश्वर है।

'प्रणिधान'का अर्थ है—अच्छी तरह निधान। और 'ईश्वर-प्रणिधान'का अर्थ है—अच्छी तरह, अत्यन्त प्रेमपूर्वक, परम विश्वासपूर्वक ईश्वरकी शरण, ईश्वरकी प्रपत्ति, ईश्वरका आश्रय।

सीधे शब्दोंमें कहें तो 'ईश्वर-प्रणिधान'का अर्थ है—सब कुछ श्रीकृष्णार्पण।

अच्छे-बुरे, शुभ-अशुभ सभी कर्मोंका प्रभुचरणोंमें समर्पण—यही है प्रभुका प्रणिधान। भगवान् पतंजलिने 'योगदर्शन' (२। १)-में बड़ी महिमा गायी है ईश्वर-प्रणिधानकी। वे कहते हैं—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।

क्रियायोगके तीन अंगोंमेंसे एक है—ईश्वर-प्रणिधान। अष्टांगयोगका दूसरा अंग है—'नियम', जिसका पाँचवाँ उपांग है—ईश्वरप्रणिधान।

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान— ये पाँच नियम हैं। (योगदर्शन २। ३२)

क्या होता है ईश्वर-प्रणिधानसे?

ईश्वर-प्रणिधानसे प्राप्त होती है—समाधि। कैसे?—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा।(योगदर्शन १। २३)

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्(योगदर्शन २। ४५)

ईश्वर-प्रणिधानी साधकके स्वरूपका वर्णन करते वेदव्यास भगवान् उसे अमृतभोगभोगी बताते हैं—

शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा
स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः
स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभोगी॥

उसके संसारके बीज—अविद्या आदि क्लेश जल-भुनकर साफ हो जाते हैं। जन्म-मरणका चक्र समाप्त हो जाता है। नित्य परमात्मामें वह युक्त हो जाता है, फिर वह चाहे बिस्तरपर पड़ा रहे, चाहे घूमता रहे। पर उसका उपाय क्या है? उपाय है—**तज्जपस्तदर्थभावनम्।** (योगदर्शन १। २८) अर्थात् मनोयोगसे, मन लगाकर ईश्वरके वाचक प्रणवका जप, ॐकारका जप; उसके अर्थभूत ईश्वरका पुनः-पुनः चिन्तन और ध्यान।

तो ॐका जप और ॐके ईश्वर-स्वरूपका चिन्तन—यही तो ठहरा ईश्वर-प्रणिधान। हाँ, यही है।

ॐका जप कैसे किया जाय?—साधककी सहज जिज्ञासा है।

योगसम्बन्धी विशाल साहित्यमें ॐके जपकी अनेक विधियाँ बतायी गयी हैं। जो अपनेको अनुकूल लगे, उसे ग्रहणकर उसकी साधनामें लगना चाहिये; विधियाँ गुरुसे, अधिकारीसे समझें।

पतंजलिका कहना है कि ॐके जपके साथ-साथ उसके अर्थकी भावना भी चलती रहनी चाहिये। शंकालु साधक पूछ उठता है कि यह कैसे होगा? दोनों बातें साथ-साथ कैसे चलेंगी?

व्यासभाष्यमें यह कहकर इसका तारतम्य बैठाया गया है कि जपके आगे-पीछे अर्थ-भावना, स्वरूप-भावना चलानी चाहिये।

शब्द और अर्थका विवाद बहुत पुराना है। कोई शब्दपर जोर देता है, कोई अर्थपर। दोनोंका नित्य सम्बन्ध है, अविनाभावसम्बन्ध है—**सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे।**

कोई कहता है—

भाव कुभाव अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

यास्ककी तरह कोई कहता है कि बिना समझे मन्त्रजपका लाभ ही क्या? वह तो गदहेपर वेद लादने जैसा हुआ।

कौत्सका अपर पक्ष है, पर शायद यास्क भी यह पसंद न करते कि गायत्रीमन्त्र, उसके मूल रूपको बदलकर किसी अन्य शब्दावलीमें जपा जाता।

'अप्रबुद्ध' महोदयने इस विवादका समन्वय निकालनेकी चेष्टा की है। वे कहते हैं—'मन्त्रार्थ और शब्दार्थ दो भिन्न वस्तुएँ हैं, जैसे संगीतमें राग और रस। पर ये दोनों मिलकर ही-स रे ग म··· शब्द और अर्थ मिलकर ही—रसकी निष्पत्ति करते हैं। रागसे रसकी शोभा है और रससे रागकी। उसी प्रकार मन्त्रके शब्दोंके उच्चारणसे, उनकी ध्वनिसे जो लहरियाँ उठती हैं, वे ही वांछित सुफल प्रस्तुत करती हैं। वांछित परिणाम ही मन्त्रका वास्तविक अर्थ है। ॐके जपसे जापक विश्वब्रह्माण्डके साथ अपने एकत्वकी अनुभूति करेगा और ॐके अर्थ-चिन्तनसे उसे अपने शुद्ध स्वरूपकी चेतना होगी*।'

ॐके जपसे—प्रणवके जपसे होता क्या है? पतंजलि (योगदर्शन १। २९में) उत्तर देते हैं—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥

इससे होता है अन्तरात्माके स्वरूपका ज्ञान और उससे होता है उन अन्तरायोंका अभाव, जो योगमार्गमें साधकको हैरान किया करते हैं। और, अन्तराय कोई एक-दो हैं?—नहीं, नौ हैं बड़े-बड़े और पाँच हैं उनके जोड़ीदार। कुल मिलाकर चौदह। योगदर्शन (१। ३०-३१)-के सूत्र हैं—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥ दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः॥

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति-दर्शन, अलब्ध-भूमिकत्व और अनवस्थितत्व—ये

* अप्रबुद्ध—दि साइंस ऑफ योग, खण्ड १ पृ० १०३—१०७।

मुख्य हैं।

दु:ख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास, प्रश्वास—ये हैं सहयोगी। तो इन चौदह अन्तरायों और प्रतिबन्धकोंसे छुटकारा मिलता है ॐके जपसे, अन्तरात्माके स्वरूपका ज्ञान तो होता ही है।

ऐसी है ईश्वर-प्रणिधानकी साधना। साधक इसमें प्रवृत्त हुआ कि उसके साधनमार्गके विघ्नोंका पत्ता कटा और आत्मदर्शन हुआ। लगनेभरकी आवश्यकता है।

मोटी-सी बात है—कर्मोंको कृष्णार्पण किया, ॐकी शरण ली कि सारी झंझटें समाप्त। फिर तो प्रकाश-ही-प्रकाश है, आनन्द-ही-आनन्द है। पर साधक लगे तो सही। साधना होनेपर सिद्धि तो मिलेगी ही।

प्रभु हृदयमें पधारे कि मानवका कल्याण हुआ। सारांश यह कि—

ईश्वर-प्रणिधानका अर्थ है—सारे कर्मोंको ईश्वरार्पण कर देना। अच्छा, भला जो कुछ करता हूँ, सब तेरा ही है—'**नारायणाय समर्पये तत्।**'

ईश्वर-प्रणिधान क्रियायोग भी है, अष्टांगयोगके 'नियम'का उपांग भी।

ईश्वर-प्रणिधानका मार्ग है—निर्लिप्त, सर्वज्ञ, कालातीत, परमगुरु परमेश्वरके वाचक नाम ॐका जप।

ॐके जपके साथ ईश्वरका स्वरूप-चिन्तन भी आवश्यक है।

ईश्वर-प्रणिधानसे होता है योगके अन्तरायोंका शमन।

ईश्वर-प्रणिधानसे होता है प्रत्येक चेतनाका साक्षात्कार।

ईश्वर-प्रणिधानसे प्राप्त होती है—निर्बीज समाधि। समाधि है चरम सिद्धि।

आइये, हम इस साधन-मार्गका आश्रय लेकर अपना जीवन सफल करें।

बोध-कथा—

कमीका सदुपयोग

(श्रीअर्जुनलालजी बन्सल)

एक समयकी बात है, किसी गाँवमें रहनेवाला एक किसान रोज सबेरे नदीसे जल भरकर लाया करता था। इस कार्यके लिये उसने एक डंडेके दोनों सिरोंपर एक-एक घड़ा बाँध रखा था, जिन्हें वह अपने कन्धेपर लटका लेता था। संयोगसे उनमेंसे एक घड़ेकी तलीमें एक सूराख हो गया था, दूसरा बिलकुल ठीक था। नदीसे जल भरकर घर पहुँचनेपर सूराखवाले घड़ेमें आधा पानी ही बच पाता था। फूटा घड़ा यह सोचकर हीन भावनासे ग्रस्त रहने लगा। इसी दशामें एक दिन वह घड़ा किसानसे कहने लगा, मैं बहुत दुखी मनसे आपसे क्षमा माँगना चाहता हूँ। किसानके कारण पूछनेपर वह कहने लगा, 'हे मालिक! आप तो जानते ही हैं कि गत दो वर्षोंसे जितना जल मुझे आपके घर पहुँचाना चाहिये था, फूटा होनेके कारण मैं उतना नहीं पहुँचा पाया, इस कारण आपकी मेहनत बेकार हो रही है।'

किसानने बड़े प्रेमसे कहा, दुखी मत हो, आज जब जल लेकर लौटेंगे तब मार्गके किनारे उगे सुन्दर फूलोंको देखना। घड़ेने वैसा ही किया और उन्हें देखकर उसके उदास चेहरेपर प्रसन्नता फैल गयी। घड़ेने पूछा, ये सौन्दर्य मुझे दिखानेका रहस्य क्या है? किसानने कहा, भाई! मैंने तुम्हारी कमीका ही सदुपयोग किया। मैंने तुम्हारी तरफ पड़नेवाले मार्गपर रंग-बिरंगे फूलोंके बीज बिखेर दिये थे और तुम नित्य ही थोड़ा-थोड़ा जल डालकर इन्हें सींचते रहे, परिणामस्वरूप इस सौन्दर्यसे प्रभावित आने-जानेवाले राहगीर तुम्हारे रूपमें इनके अनजाने पालनहारकी प्रशंसा करते रहते हैं। सच मानो, तुमने ही तो इन फूलोंको जीवनदान दिया है, अब तुम हीन भावनाका त्यागकर अपने सद्गुणोंको भी देखो। तुम फूटे होकर भी समाजमें सौन्दर्य और सुगन्ध फैलानेमें सहायक और सफल बन गये हो।

साधकोंके प्रति—

भावसाध्य साधन

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

सत्संगमें जितनी बातें सुनी जायँ, उन बातोंमेंसे जो अच्छी बातें मालूम दें, उन्हें चुन-चुनकर याद कर लें, नोट कर लें और उनके अनुसार अपना जीवन बनायें। पक्का विचार कर लें कि अब अपनेको तो ऐसा जीवन बनाना ही है। ऐसा निश्चय करके उनको आचरणमें लानेकी चेष्टा करें तो बहुत विशेष सुधार हो सकता है।

दूसरी बात यह समझमें आयी कि साधन एक तो क्रियासाध्य होता है और एक होता है भावसाध्य। क्रियासाध्य साधनकी अपेक्षा भावसाध्य साधन अधिक मूल्यवान् होता है, श्रेष्ठ होता है और भावसाध्य साधन है भी सुगम। क्रियामें तो उद्योग करना पड़ता है, परिश्रम करना पड़ता है; परंतु भावमें तो वैसा मानकर अपना भाव बना लेना पड़ता है, जिससे साधन सुगमतासे बनता है।

भाव भी दो तरहके होते हैं। एक भाव कठिन होता है और एक भाव सुगम होता है। जैसे मनकी एकाग्रता अर्थात् मनमें कुछ भी स्फुरणा न हो आदि; तो यह साधन कठिन है। पर ऐसा भाव कि भगवान् मेरे हैं, मैं भगवान्‌का हूँ—यह भाव सुगमतासे बनाया जा सकता है। मनुष्य यदि चाहे कि मैं भगवान्‌के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लूँ तो वह जब चाहे तभी जोड़ सकता है और संसारके साथ तोड़ना चाहे तो जब चाहे तभी तोड़ सकता है; अतः यह साधन सुगम है और बहुत मूल्यवान् है। जैसे विवाह होता है तो लड़की मान लेती है कि यह मेरा पति है और वह लड़का मान लेता है कि यह मेरी स्त्री है। ऐसा माननेपर उम्रभर वही सम्बन्ध रहता है। पतिके मर जानेपर भी वह स्त्री वही सम्बन्ध माने रहती है कि मैं अमुककी स्त्री हूँ। उसका नाम सुननेपर मनमें असर पड़ता है—चौकन्नी-सी हो जाती है कि किसका नाम लिया इन्होंने। मरनेके बाद पचासों वर्ष हो जायँ तब भी उसके वही बात रहती है। कारण, उसका मनसे सम्बन्ध हो गया कि ये मेरे पति हैं, यह मेरे पतिका नाम है। इसी तरह भगवान्‌के साथ अपनापन हो जाय तो फिर कुछ करना नहीं पड़ता। भगवान् मेरे हैं। भगवान्‌का नाम लेते ही मनमें आये कि 'ओहो! हमारे प्रभुका नाम ले रहे हैं। दूसरे नामसे भी कोई पुकारे तो कहते हैं हमारे प्रभुको ही पुकार रहे हैं, उसका लक्ष्य हमारे प्रभुका है। ऐसा समझकर उसे आनन्द आता है। और वह पुस्तक पढ़ता है और उसमें कहीं भगवान्‌का नाम हो, भगवान्‌की लीला हो, गुण हो, भगवान्‌के सम्बन्धकी कोई भी बात हो तो वह उसको बड़ी प्रिय लगती है और सुननेमें बड़ा आनन्द आता है तथा अपनापन प्रतीत होता है कि यह हमारे प्रभुकी बात है। इस तरह भाव बना लिया जाय तो बड़ी सुगमतासे मनुष्यकी उन्नति हो सकती है और भाव बननेपर उस भावके अनुसार आप-से-आप क्रियाएँ होने लगती हैं। जैसे विवाह होनेपर लड़कीका भाव बदल जाता है, अतः क्रियाएँ भी बदल जाती हैं और उसे दूसरे लोग भी कहने लग जाते हैं कि तू बालक थोड़े ही है, तेरा विवाह हो चुका है, यों कैसे चलती है। वह भी समझती है कि यह ठीक है—मेरी शादी हो चुकी है। इसी तरह जो साधन-भजन करते हैं और भगवान्‌के हो जाते हैं, उनके मनका भी भाव बदलता है और वे गड़बड़ी करते हैं तो दूसरे भी कह देते हैं कि तुम तो सत्संग करनेवाले हो, तुम भजन-ध्यान करनेवाले हो, यों कैसे करते हो; सत्संग करते हो और झूठ बोलते हो, क्या तुम पापसे नहीं डरते? तुम्हें बड़ा पाप लगेगा। दूसरे लोग भी सावधान कर देते हैं और उसके अपने भी मनमें विचार आता है कि बात तो ठीक है, सत्संग किया है तो फिर वैसे ही आचरण करने चाहिये। इस तरह भाव बन जानेपर आचरण भी अपने-आप ही उत्तम बनने लग जाते हैं अर्थात् भावसाध्य साधन बननेपर क्रियासाध्य साधन अपने-आप बनने लगता है।

भक्ति-कथा—

व्रजरज

(श्रीभानदेवजी)

दक्षिण भारतसे किसी समय एक कृष्णभक्त वैष्णव साधु वृन्दावनकी यात्राके लिये आये थे। एक बार वे गोवर्धन (गिरिराज)-की परिक्रमाके लिये गये। हाथमें करमाला लेकर जप करते हुए परिक्रमामार्गपर मन्द गतिसे चल रहे थे। दोपहर हो गयी। बाबाकी भिक्षा शेष थी, परंतु परिक्रमामार्गपर भिक्षा मिलना सम्भव नहीं है, यह मानकर वे चलते रहे। थोड़ी देरतक इस प्रकार चलनेके बाद सामनेसे आती हुई एक किसान स्त्री दिखायी दी। वह अपने घरसे खेतमें जा रही थी। उसके सिरपर टोकरेमें भोजन था। दोपहरका समय है, और बाबा भूखे होंगे, यह सोचकर उसने बाबासे पूछा—'बाबा, भोजन पाओगे (करेंगे)?' दोपहरका समय था, बाबाको भूख भी लगी थी और यह भोजन तो अनायास ही सामने आया था। बाबाने भोजनके निमन्त्रणको स्वीकार किया। उस स्त्रीने खाद्य-सामग्रीसे भरा टोकरा सिरसे उतारकर नीचे रखा। गेहूँकी रोटी, सब्जी, गुड़, दाल इत्यादिसे टोकरा पूरा भरा हुआ था। सारी सामग्री एक कपड़ेसे ढकी हुई थी। उस कपड़ेपर उस स्त्रीने अपनी चप्पलें रखी थीं। गाँवकी औरतोंकी प्राय: आदत होती है कि कई बार वे अपनी चप्पलें सिरपर रखे टोकरेमें रख देती हैं, और खुद नंगे पैर चलती हैं। इसने भी अपनी चप्पलें भोजनके टोकरेपर रखी थीं।

बाबाजीकी स्वीकृति पाकर चप्पलें नीचे रखकर उसने भोजनपर ढका हुआ कपड़ेका टुकड़ा हटाया और भोजन परोसनेकी तैयारी करने लगी। यह देखकर वैष्णव संस्कारमें पले-बढ़े साधु महाराज चौंक उठे, उन्होंने लगभग गर्जना करते हुए कहा—'अरे! तुमने अपनी धूलसे सनी जूतियाँ भोजनपर रखी हैं! और ऐसा अशुद्ध भोजन मुझे दे रही हो? क्या ऐसा धूलवाला भोजन हम ग्रहण करें? बिलकुल बेवकूफ हो। तुम्हारी ऐसी धूलवाली गंदी जूतियोंने भोजन अशुद्ध कर दिया है। रखो अपना भोजन अपने पास।'

अप्रसन्न साधु भोजनका त्याग करके चल दिये, परंतु वह व्रजवासिनी स्त्री तनिक भी विचलित हुए बिना मुसकराने लगी। व्रजवासिनी देवीने बाबाको मर्मभेदी उत्तर दिया—'अरे! तेरेको बाबा किसने बनाया? तू सच्चा बाबा नहीं है। अरे! यह धूल नहीं है, यह तो व्रजरज है। व्रजरज तो राधा-कृष्णकी चरणरज है। व्रजरजको कौन धूल कहता है? तू बाबा बना है और तुझे इतना भी मालूम नहीं है?'

साधु महाराजका मर्म मानो बिंध गया। एक भोली-भाली, अनपढ़ किसान स्त्रीके बिलकुल सही शब्द साधु महाराजके दिलके आरपार उतर गये।

व्रजक्षेत्रकी मेरी अनेक यात्राओंके दौरान मैंने देखा है कि व्रजभाषामें सम्मानसे 'आप' कहनेकी परम्परा नहीं है। व्रजके प्रेमी लोग तुकारका अत्यन्त प्रेमसे उपयोग करते हैं। उनका तुकार ऐसा मीठा है कि 'आप' तो इस क्षेत्रमें बिलकुल फीका शब्द माना जाता है। व्रजमें पत्नी पतिको एवं सामान्य व्रजवासी साधु बाबाको भी तुकारसे सम्बोधित करते हैं। अत: इस व्रजवासिनी किसान स्त्रीके तुकारको अपमानजनक नहीं समझना है।

इस सीधी-सादी व्रजनारीके ऐसे प्रेमयुक्त कथन सुनकर साधु बाबाकी आँखोंमें से सावन-भादोंकी बरसात होने लगी। चेहरा कृष्ण-प्रेमसे भावविभोर हो गया। शरीर काँपने लगा। साधु महाराज हाथ जोड़कर अपने अपराधके लिये क्षमा माँगने लगे।

'मुझसे गलती हो गयी, मैया, मुझे क्षमा कर दे। सच बताया, यह धूल नहीं है। यह तो व्रजरज है, राधा-कृष्णकी चरणरज है। तुमने मेरी आँखें खोल दीं। मैया! मुझे क्षमा कर दो।'

बाबा बारम्बार उस व्रजवासिनीको साष्टांग प्रणाम करने लगे। फूट-फूटकर रोते हुए व्रजकी रजको बार-बार शरीरपर मलने लगे।

बाबाकी यह दशा देखकर उन्हें आश्वासन देते हुए उसने कहा—'अरे! कोई बात नहीं बाबा! हमारी राधारानी बहुत बड़े दिलवाली हैं। वो सबको माफ करती रहती हैं। इतना शोक मत कर।'

यह कहकर उसने साधु महाराजको भोजन परोस दिया। बाबा 'राधे कृष्ण, राधे कृष्ण' बोलते हुए भोजन करने लगे और गोवर्धनकी वह गोपी अपने खेतकी ओर चल दी।

गीता—शाश्वत और परम मनोविज्ञान

(डॉ० श्रीप्रभुनारायणजी मिश्र)

मनुष्यका जीवन विकासकी एक यात्रा है। यह विकास बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी दोनों है। बहिर्मुखी विकासके लिये वह प्रकृतिसे संघर्ष करता है। निरन्तर नये-नये उपकरणोंका निर्माण करता है तथा भोग और सुरक्षाके अनेक साधन जुटाता चला जाता है। लोभके कारण वह बहिर्मुखी विकाससे कभी सन्तुष्ट नहीं होता। उसे नित्य अधिक-से-अधिक चाहिये होता है। इस छीना-झपटीमें वह अपने ही भाई-बन्धुओंसे युद्ध करता है, राष्ट्र एक-दूसरेसे टकराते हैं तथा अशान्ति व्याप्त हो जाती है। मनुष्यकी तृष्णाएँ स्वयमेव समाप्त नहीं होती हैं। विवेकवान् लोगोंको एक सीमाके बाद बहिर्मुखी विकास तथा भौतिकताकी दौड़की व्यर्थता समझमें आने लगती है। महाभारतमें एक कथा है, राजा ययातिकी। ययातिने अपने पुत्रका यौवन लेकर संसारके भोगोंको भोगा तथा अन्तमें इस निष्कर्षपर पहुँचे कि उन्होंने भोगोंको नहीं भोगा, अपितु भोगोंने ही उन्हें भोगा है। बहिर्मुखी विकाससे कभी भी अन्दरकी तृप्ति और शान्ति प्राप्त नहीं होती। तृप्ति, आनन्द तथा शान्ति प्राप्त करना मनुष्यकी आवश्यकता भी है और अधिकार भी। इसे प्राप्त करनेके लिये उसे अपने अन्दर उतरना पड़ता है—अन्तर्यात्राकी शुरुआत करनी पड़ती है। बाहर और अन्दरके विकासका सन्तुलन बना रहना चाहिये। ऐसा न हो कि भौतिक सम्पदाका अम्बार लगा रहे तथा मनकी शान्ति और प्रसन्नता तिरोहित रहे, इसके विपरीत स्थिति भी स्वीकार्य नहीं है कि जीवनकी न्यूनतम न्यायपूर्ण आवश्यकताएँ अपूर्ण रहें और शान्तिकी खोज चलती रहे। सन्तुलित प्रगतिको दोनों ही धरातलोंपर होना होगा—बहिर्मुखी तथा अन्तर्मुखी। इसीलिये जीवनके उद्देश्यमें धर्मके साथ अर्थ तथा कामके साथ मोक्ष शामिल है, परंतु मनुष्य जितना प्रयत्न बाहरी उन्नतिके लिये करता है, उतना वह आन्तरिक विकासके लिये नहीं करता। जब उसे आन्तरिक सुख-शान्तिकी तीव्र आवश्यकताका बोध होता है, तब वह अपनी अन्तर्यात्रा प्रारम्भ करता है। इस अन्तर्यात्रामें मनुष्यके अन्त:करणमें ही दैवी और आसुरी वृत्तियोंका संग्राम प्रारम्भ होता है। प्रतीकरूपमें यही देवासुर-संग्राम है, यही महाभारत है। यह संसारके हर व्यक्तिका अपना निजी संग्राम है और यह तबतक चलता रहता है, जबतक मनुष्य आध्यात्मिक विकासकी पूर्णताको प्राप्त नहीं कर लेता। यह संग्राम शाश्वत है। आन्तरिक विकासके किस दौरमें कौन-सी परेशानी उठ खड़ी होती है तथा उसका समाधान क्या है—गीता इसका निरूपण करती है।

कब हम आलस्यका शिकार हो शिथिल हो जाते हैं और कब काम और क्रोधके प्रहारसे क्षत-विक्षत। गीता प्रतीक रूपमें इसका उल्लेख करती है। अन्तर्यात्रामें अनेक मनोवैज्ञानिक पड़ाव और समस्याएँ आती हैं। गीतामें समर्थ गुरु श्रीकृष्णने उन सबका समाधान प्रस्तुत किया है। वे सारथी बनकर सरलहृदय साधक अर्जुनको पूर्णतातक पहुँचाते हैं।

महाभारतके विविध पात्र हमारे अन्त:करणकी ही अनेकानेक वृत्तियोंके प्रतीक हैं। महात्मा गाँधीका मानना है कि महाभारत-युद्ध बाहर ही नहीं हुआ, यह मनुष्यके अन्दर भी घटित होता है। गीता इस महाभारतमें विजयी होनेका मार्ग प्रशस्त करती है। गीताके उपदेशोंका पालन करनेवाला व्यक्ति इस आन्तरिक महाभारतमें निश्चित विजयी होता है—वस्तुत: गीता परम मनोविज्ञान है।

श्रीकृष्ण, धृतराष्ट्र, कौरव, पाण्डव, द्रोण, भीष्म, संजय आदि व्यक्ति बाहर ही नहीं है। वस्तुत: ये हमारी विविध वृत्तियाँ भी हैं। सबकी सब हमारे अन्त:करणमें भी हैं। व्यक्ति ही सब कुछ स्वयं है। वास्तवमें कौरवोंसे पाण्डवोंकी लड़ाई अपनी ही असद् एवं सद्प्रवृत्तियोंकी लड़ाई है। आइये, महाभारतके पात्रोंके गूढ़ार्थको समझ लें और जान लें कि कौन-सा पात्र हमारे अन्त:करणकी किस प्रवृत्तिका प्रतिनिधित्व करता है।

गीता योगशास्त्र है। 'योग' शब्दका अर्थ है—मिलन। जीवात्मा और परमात्माके मिलनरूपी योगके ही प्रतीक-

रूपका इसमें वर्णन किया गया है। जीवात्माका दूसरा नाम है—क्षर पुरुष और परमात्माका अक्षर पुरुष। जब क्षर और अक्षर पुरुषका मिलन हो जाता है, दृश्य और द्रष्टाका मिलन हो जाता है, ज्ञेय और ज्ञाताका मिलन हो जाता है तो द्वैतभाव लुप्त हो जाता है। न क्षर रहता है न अक्षर, जो रहता है, उसको गीतामें पुरुषोत्तम कहा गया है।

प्रकृतिके नियमको धर्म कहते हैं। उस धर्मके अनुसार बहिर्मुखी वेग समाप्त होते ही उलटकर अन्तर्मुखी गति होने लगती है। इस समय अन्तर्मुखी अवस्था बहिर्मुखी अवस्था और भावोंसे घोर संग्राम करती हुई आगे बढ़ती है। बहिर्मुखी प्रवृत्तियोंका नाम असुर और अन्तर्मुखी वृत्तियोंका नाम देवता है। इन्हींके संघर्षोंको देवासुर-संग्राम कहते हैं। इस संग्रामका स्थान अर्थात् क्षेत्र अपना अन्तःकरण ही है।

योगका आरम्भ होता है वियोगसे। जबतक विषय-भोग अच्छा लगता है, तबतक मन-प्राण परमात्माके लिये व्याकुल नहीं हो सकते। जब सांसारिक परिस्थितिकी कठिनाइयों और वृत्तियोंका संग्राम कष्टप्रद हो जाता है, तब साधक बहुत ही शोकाकुल होकर, आर्त होकर परमात्मा या गुरुकी शरण लेता है। अर्जुनविषादयोगका भी यही तात्पर्य है।

अर्जुन विषादयोग गीताका प्रथम अध्याय है। संजय धृतराष्ट्रको युद्धका हाल सुना रहा है। यह धृतराष्ट्र कौन है? जो मन-मानव-शरीररूपी राष्ट्रको धारण किये रहता है और उसका पालन करता है—उस मनको धृतराष्ट्र कहा जाता है। मन विवेकहीन और अचेतन होनेके कारण अन्धा है, परंतु अनेक जन्मोंसे असंख्य वृत्तियोंद्वारा परिपुष्ट होकर वह दस हजार (असंख्यवाचक) हाथियोंका बल रखता है। मनके राग-द्वेषजनित संस्कार उसकी सन्तानें हैं और वे सदा सियारोंकी भाँति चिल्लाती रहती हैं। इसीलिये उन्हें कौरव कहते हैं; क्योंकि कौरव शब्दका एक अर्थ श्रृगाल भी होता है। दूसरे अर्थके अनुसार जो मन और मनकी वृत्तियाँ जीवात्माको निरन्तर समझाती हैं कि तुम कर्ता हो, यह तुम्हारा कर्तव्य है, इसलिये यह करो, वह करो। इस प्रकारके 'कुरु कुरु' अर्थात् करो-करो चिल्लानेवाले कौरव हैं। शुद्ध बुद्धिको पण्डा कहते हैं। पाण्डु शब्दका अर्थ है—पण्डासे युक्त अर्थात् बुद्धिमान्, पथप्रदर्शक या शुद्धबुद्धि।

धृतराष्ट्र अर्थात् अन्धे मनकी शक्तियाँ बहिर्मुखी हैं और असंख्य हैं। इसलिये असंख्यवाचक शब्द 'शत' का प्रयोग करके कहा जाता है कि धृतराष्ट्रके एक शत सन्तान कौरव हैं। इसमें ज्येष्ठका नाम दुर्योधन है। जिसको युद्धमें जीतना बहुत ही कठिन है, उस कामवृत्तिको दुर्योधन कहा जाता है। उसका दूसरा नाम राग भी है। उसका अत्यन्त प्यारा भाई दु:शासन क्रोध अथवा द्वेषका प्रतीक है। क्रोधको शासनमें रखना अत्यन्त ही दुष्कर है। काम और क्रोधके अन्य भाई रजोगुणकी भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ हैं।

जैसा बताया गया है कि पाण्डु उदासीन, विवेकसम्पन्न, शुद्ध बुद्धि है, उसकी प्रतीकरूपमें दो पत्नियाँ हैं—प्रवृत्ति और निवृत्ति। प्रवृत्तिका नाम माद्री और निवृत्तिका नाम कुन्ती है। महाभारतके पाठक जानते हैं कि कुन्ती जन्मके बाद ही माता-पिताको त्याग करके भोजराजकी पालिता कन्या हो गयी थीं और कन्याकालसे ही प्राणाधार आत्मबोधके केन्द्रस्वरूप सूर्यके प्रति आकर्षित थीं। माद्री मद अर्थात् कर्तापनमें रत भावकी सन्तान अर्थात् प्रवृत्ति हैं।

शुद्ध बुद्धि जब प्रवृत्तिका संग करती है तो वह नष्ट हो जाती है। परंतु जब विवेक-वैराग्यरूप पतिके आदेशसे प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्म, पवन, इन्द्र और अश्विनीकुमारोंका आह्वान करके उनसे सन्तान माँगती है तो वह धर्मके प्रसादसे युधिष्ठिर, पवनके प्रसादसे भीम, इन्द्रके प्रसादसे अर्जुन और अश्विनीकुमारोंके प्रसादसे नकुल और सहदेव—ये पाँच वृत्तियाँ प्राप्त करती हैं। इन्हींको पाण्डव (पाँच) कहते हैं। युधिष्ठिर संग्राममें स्थिर रहते हैं। विचलित नहीं होते। ये पाण्डवोंमें सबसे प्रधान भी हैं और सबसे सूक्ष्म भी हैं।

जीवसत्ताको स्थूल और सूक्ष्म शरीरके साथ संयुक्त अथवा विमुक्त करनेकी प्राणशक्ति भीम है। इन्द्र देवराज हैं और विद्युत् शक्तिके अधीश्वर हैं। मृत्यु-भय अर्थात् वज्र उनका अस्त्र है और वे जबतक अपनी मायाका ढक्कन नहीं हटाते, तबतक जीवकी दृष्टि उलटी रहती है। उनकी सन्तान अर्थात् अर्जुन-जैसा भाव जब अन्तःकरणमें उत्पन्न होता है, तब साधककी दृष्टि अन्तर्मुखी हो जाती है और प्राणशक्ति ईश्वरकी ओर मुड़ जाती है। साधकके अन्तःकरणमें

भीमार्जुनका आविर्भाव होते ही कौरव त्राहि-त्राहिकर चिल्लाने लगते हैं; क्योंकि इसके बाद उनकी बहिर्मुखी गति नष्ट होने लगती है। अश्विनीकुमार युगल देवता हैं, जुड़वा भाई हैं। अश्विनीकुमार प्राणके अधीश्वर देवता हैं। जब प्रवृत्तिसे इनका सम्पर्क होता है, तब नकुल और सहदेव पैदा होते हैं। माद्री प्रवृत्ति होते हुए भी विवेकाश्रित प्रवृत्ति है। अतः नकुल और सहदेव नियमित, नियन्त्रित रसभोग और गन्धभोगके संस्कार बन जाते हैं और आत्मखोजीको बहुत लाभ पहुँचाते हैं। महाभारतके ये सारे पात्र प्रतीकात्मक एवं गूढ़ अर्थवाले हैं।

एक ही अन्तःकरणकी दोनों वृत्तियाँ कौरव और पाण्डव सदा एक-दूसरेको जीतनेकी निरन्तर अथक चेष्टा करती रहती हैं। परंतु अब एक प्रश्न है कि यह संग्राम क्षेत्र कहाँ है, जहाँ कौरव और पाण्डव लड़नेके लिये उद्यत खड़े हैं।

न्यायशास्त्रके अनुसार क्रियाश्रयका नाम शरीर है। स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर, क्रियाओंके आश्रय अथवा क्षेत्र हैं। क्रियाका क्षेत्र होनेके कारण इन दोनों शरीरोंको कुरुक्षेत्र कहते हैं। अन्तर केवल यह है कि स्थूल शरीरमें अवस्थित रीढ़ और मस्तिष्क तथा सूक्ष्म शरीरको धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र कहते हैं; क्योंकि यहाँ बहिर्मुखी तथा अन्तर्मुखी दोनों प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं। कौरवोंके प्रधान सेनानायक और उनके गुरु द्रोणाचार्य हैं। द्रोण शब्दका अर्थ है—कौआ। माना जाता है कि कौएकी एक ही आँख होती है। इसलिये वह पुनः-पुनः सिर घुमाकर कभी दाहिने कभी बायें देखता है। एक साथ दोनों आँखोंसे देख नहीं पाता। द्रोणाचार्य विपर्यय बुद्धिके प्रतीक हैं। संसारपर दृष्टि होनेसे वे सदा कौरवोंके दास बने रहे। परंतु चाहे कुछ भी हो द्रोणाचार्य हैं तो बुद्धिके अंश ही, इसलिये भीतर-ही-भीतर बुद्धिको निर्मल करनेवाले ईश्वरमुखी वृत्तिरूप पाण्डवोंसे उनका स्वाभाविक स्नेह है। इसलिये कामरूपी दुर्योधन बड़ा भयभीत है कि कहीं द्रोणाचार्य पाण्डवोंके पक्षमें मिल न जायँ।

पाण्डवपक्षके सेनापति द्रुपदके पुत्र धृष्टद्युम्न हैं। अर्जुन तो हैं ही। द्रुपद शब्दका अर्थ है, अविचल श्रद्धा या निष्ठा। वृक्ष भी इसका शाब्दिक अर्थ है। वृक्षके समान एक स्थानमें, एक भावमें जो भागवती निष्ठा स्थिर रहती है, उसीको महाभारतमें द्रुपद कहा गया है।

जो आत्मखोजी अकेले मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारकी सभी वृत्तियों अर्थात् चतुरंग सेनाको पराजित कर सकता है, उस समर्थ व्यक्तिको महारथी कहते हैं। भीम और अर्जुनके बाद पाण्डवपक्षमें श्रेष्ठ महारथी युयुधान हैं। इनका दूसरा नाम सात्यकि है। ये अर्जुनके शिष्य और धुरन्धर यदुवंशी वीर हैं। जो कुछ है, वह ब्रह्म ही है, इस ब्रह्माकारवृत्तिको सात्यकि कहते हैं। यह वृत्ति अज्ञाननाशक आत्मबोधसे ही उत्पन्न होती है। अर्जुन शब्दके महाभारतमें कई अर्थ बताये गये हैं। एक अर्थ है सरल, दूसरा अर्थ है सर्वजित्, तीसरा अर्थ है नहीं रहता है बन्धन जिसमें, वह आत्मबोधसम्पन्न, मुक्त पुरुष।

विराट् है कर्तापनका त्याग। दृढ़ता जिसका निशान या लक्षण है, जो कहता है कि या तो शरीरका पतन ही होगा या साधनाकी सिद्धि ही होगी, उसे धृष्टकेतु कहते हैं। चिकि अर्थात् इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनेवाला, शम, दम, तितिक्षा, उपरतिसम्पन्न साधकको चेकितान कहते हैं। निजबोधको काशी कहते हैं। अस्तित्व-बोधमें स्थित व्यक्तिको काशीराज कहते हैं। शरीरको पुर कहते हैं। शरीरकी आसक्ति जिसकी क्षीण हो जाती है, उसे पुरुजित् कहते हैं। कुन्तिभोज, पाण्डवमाता कुन्तीके पालक पिता हैं। कुन्तीका अर्थ है—निवृत्ति या त्याग। त्यागका भरण-पोषण करता है ईश्वरस्मरण, उसीका नाम कुन्तिभोज है। शैव्य आत्मसमर्पणको कहते हैं। आत्मसमर्पण करनेवाला योगी श्रेष्ठ मानव है।

मन्युका अर्थ है—क्रोध। यम-नियममें सिद्ध महापराक्रमी क्रोधजयी योगीको युधामन्यु कहते हैं। जब व्यक्ति शब्दादिरूप इन्द्रियजन्य ज्ञानके ऊपर आत्मसत्ताका आरोप करके सत्यप्रतिष्ठ होता है तो उसे उत्तमौजा कहते हैं।

सुभद्रा कृष्णकी भगिनी हैं। इनके एकमात्र पुत्र अभिमन्यु हैं। अभिमन्युके विषयमें महाभारतमें लिखा है कि वे चन्द्रके अवतार हैं। चन्द्रका अर्थ है—शुद्ध मन। शुद्ध मन जब शुद्ध बुद्धिमें लय होता है तो क्रोध और भयको नाश करनेवाली भागवती श्रद्धा उत्पन्न होती है,

उसीका नाम अभिमन्यु है।

कर्ण सूर्य और कुन्तीके पुत्र थे। वे दानी तथा प्रतिज्ञापर अटल रहनेवाले थे। वे धर्म, निष्ठा और वीरताके लिये प्रसिद्ध थे। कर्ण धर्म और कर्तव्यनिष्ठाका अभिमान होनेके कारण कौरवपक्षके प्रधान सेनानी हैं। इस सात्त्विक अभिमानका केवल आत्मसमर्पण करनेवाला अर्जुन ही नाश कर सकता है।

कृपाचार्य शरद्वान् ऋषिके पुत्र और द्रोणाचार्यकी पत्नीके सहोदर भाई थे। भीष्मने इनके हाथमें पहले कौरव-पाण्डवोंकी शिक्षाका भार दिया था। जीवमात्रके प्रति कृपा अथवा दया करनेका अभिमान ही इनका स्वरूप है। यह सात्त्विक अभिमान सृष्टिरक्षाके लिये आवश्यक है। इसलिये ये अमर हैं, परंतु यह अभिमान कर्तापनका पोषक है और चित्तको पूर्णतया अन्तर्मुखी नहीं होने देता। दूसरी ओर जो जीवमात्रके प्रति दया अन्तःकरणमें है, उसके मूलमें मृत्यु, भय, भविष्यमें कष्ट पानेका भय और दया न करनेपर दूसरोंसे सहायता न मिलनेका भय अर्थात् एक शब्दमें अपने जीवत्वकी कामना है। इसलिये ये दयावृत्ति रखते हुए भी दुर्योधनके सेनानी हैं और अपनी सात्त्विकताके कारण सदा संग्राममें विजयी और अमर हैं।

अश्वत्थामा द्रोणाचार्य और कृपीके पुत्र हैं। 'अ' अर्थात् नहीं, 'श्व' अर्थात् आगामी सूर्यतक, 'थ' अर्थात् स्थित होना और 'म' अर्थात् उसका भाव। आगामी सूर्योदयतक कुछ भी स्थित नहीं रहेगा—इस नश्वरताके बोधको अश्वत्थामा कहते हैं। जो कुछ उत्पन्न हुआ, होता है, बढ़ता है, पकता है, क्षीण होता है और नष्ट होता है, यह षड्भाव विकार विकृतिका नित्य गुण है। इसलिये यह अमर है। जैसे कर्ण रागमय कर्तव्य और धर्मनिष्ठ हैं, वैसे विकर्ण प्रमाद और साधनामें क्लेशका अनुभव है। राजा सोमदत्तके पुत्रका नाम है भूरिश्रवा अर्थात् आत्मप्रशंसाकी असीम इच्छा। जब यशकी एषणा तीव्र हो उठती है तो सर्वत्र ईश्वर विद्यमान है, यह भावना परास्त हो जाती है। इसीको महाभारतकी सांकेतिक भाषामें भूरिश्रवाके द्वारा सात्यकिका लांछित होना कहते हैं। महाभारतमें सात्यकि भूरिश्रवाद्वारा लांछित हुए थे।

महाभारतके सारे पात्र जैसे हमारी अपनी ही वृत्तियाँ हैं। ये वृत्तियाँ दैवी और राक्षसी दोनों हैं। अन्तःकरणमें इनका संग्राम चलता रहता है। मनुष्य पूर्ण एवं स्थायी शान्ति तब प्राप्त करता है, जब दैवी वृत्तियाँ राक्षसी वृत्तियोंपर विजयी हो जाती हैं। महाभारतके सारे पात्र वृत्तिरूपसे हम स्वयं हैं। हम ही कभी मार्गदर्शक श्रीकृष्ण हैं और कभी सरलहृदय अनुयायी अर्जुन। हम ही कभी अन्धे मन एवं अविवेकके प्रतीक धृतराष्ट्र हैं, तो कभी काम-क्रोधकी मूर्ति दुर्योधन और दुःशासन। हम ही कभी द्रष्टाभाव संजय हैं तथा कभी धर्मपालनमें दृढ़ धर्मराज युधिष्ठिर। सबकुछ हम ही हैं। महाभारतके कुछ पात्रोंका प्रतीकार्थ एवं गूढार्थ ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। महाभारतके सारे पात्रोंके प्रतीकार्थ एवं गूढार्थ हैं, जिन्हें समझनेके लिये दृष्टि चाहिये।

आन्तरिक महाभारत निरन्तर चलता रहता है। यह महाभारत हर व्यक्तिका अपना निजी महाभारत है। श्रीकृष्ण हमारा भी रथ चलानेके लिये उद्यत खड़े हैं, वस्तुतः रथ वही चला रहे हैं, परंतु पूर्ण शिष्य-भावसे हम उनके सामने समर्पण ही नहीं करते। जब हम उनके भरोसे होकर अपनी साधनाएँ और अपना प्रयत्न करते हैं तो वे हमारी पाण्डववृत्तियों—दैवी वृत्तियोंका मार्गदर्शन करते हुए कौरववृत्तियों—राक्षसी वृत्तियोंपर हमें विजय दिला देते हैं।

काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, अहंकार, ईर्ष्या आदि मनुष्यकी शाश्वत समस्याएँ हैं। गीता इन समस्याओंका अचूक समाधान प्रस्तुत करती है, इसलिये गीता शाश्वत मनोविज्ञान है, गीता परम मनोविज्ञान है।

गीताके विषयमें एक भ्रामक धारणा भारतवर्षमें यह बन गयी है कि इसे पढ़नेवाला व्यक्ति संसारका त्याग कर देता है। क्या गीता सुननेके बाद अर्जुन लड़ाईका मैदान छोड़कर भाग गया? गीताका ज्ञान प्राप्त करके वह अपने कर्तव्यमें अधिक दृढ़तासे लगा रहा, उसका संशय और विषाद समाप्त हो गया। भारतवर्षमें व्यक्तिकी मृत्युके समय लोग गीताके श्लोकोंका पाठ करना प्रारम्भ कर देते हैं। यह अच्छी बात है, पर ध्यान रहे वस्तुतः गीताकी आवश्यकता उसे अधिक है, जो अभी भी संसार-समरमें जूझ रहा है।

तीर्थतत्त्व-विमर्श

(आचार्य श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजी मिश्र 'विनय')

'तृ'—**प्लवन सन्तरणयोः**—धातुसे 'थक्' प्रत्यय करनेपर 'तीर्थ' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका सीधा अर्थ है सन्तरणमें सहायक—**'तारयतीति तीर्थम्।'** जिसका आश्रय लेनेपर प्राणी पापसे तर जाय, विशुद्ध हो जाय, वह स्थान भारतीय-परम्परामें 'तीर्थ' शब्दसे अभिहित होता है। और अधिक स्पष्ट कहना चाहें तो कह सकते हैं कि भू-वलयके वे स्थल, जो कभी विशुद्ध दैवी-भावों, विचारों, घटनाओं और वस्तुओंसे किसी काल-विशेषसे सम्पृक्त हुए, किंतु उन भावों, विचारों, घटनाओं और अप्राकृत वस्तुओंका प्रभाव आज भी जहाँके पर्यावरणमें व्याप्त है, या वहाँ पहुँचनेपर संस्फूर्त होता है—धार्मिक शब्दावलीमें वे 'तीर्थ' कहे जाते हैं।

विचारणीय है कि तीर्थोंकी इस महत्ताका तात्त्विक आधार क्या है? क्या तीर्थ किसी प्राक्कालिक भगवदवतार, तपश्चर्या या यज्ञादि-धार्मिक घटनाओंके स्मारकमात्र हैं, अथवा उनका कोई अन्य रहस्य भी है। सामान्यतया आजका बुद्धिवादी शिक्षित समुदाय अधिक-से-अधिक इनको प्रथम कोटिमें ही रखकर सन्तुष्ट हो जाता है, जबकि पारम्परिक आस्थावान् तीर्थयात्री तीर्थोंको केवल भौतिक स्मारक न मानकर इनसे अपने ऐहिक और आमुष्मिक कल्याणकी भी कामना करता है। दृष्टिकोणोंमें भेद होनेसे दोनों प्रकारके व्यक्तियोंकी तीर्थ-सेवनकी पद्धतियोंमें भी अन्तर आ जाता है। श्रद्धालु, तीर्थयात्री स्नान-दान, श्राद्ध, देवदर्शन आदि कृत्योंको तीर्थमें पूर्ण धार्मिक तथा अवश्यकरणीय मानता है, जबकि बुद्धिवादी इन कर्मकाण्डोंको बाह्याडम्बर कहकर नकार देना ही अपना वैशिष्ट्य समझता है।

यहाँ आस्थावान् तीर्थयात्रीके दृष्टिकोणके पीछे शास्त्रसमेधित एक वैज्ञानिक तथ्य यह कि प्रत्येक तीर्थके स्थूल-आधिभौतिक-स्वरूपके अतिरिक्त आधिदैविक और आध्यात्मिक सूक्ष्म-स्वरूपोंकी भी सत्ता है। अर्थात् सभी तीर्थोंके अधिदेवता नित्य हैं और उनके आध्यात्मिक प्रतीक और प्रयोजन भी शाश्वत, सत्य अथ च सार्वकालिक हैं। व्यक्त जगत्में पृथ्वीके तत्तत् स्थलोंमें भगवदिच्छासे भगवान्की भाँति तीर्थोंका भी 'आविर्भाव' या 'अवतार' तथा 'तिरोभाव' या 'लोप' होता रहता है। सम्पूर्ण हिन्दू-धर्म और दर्शन इस मान्यतासे अनुप्राणित है। तीर्थ अपने नित्यरूपसे सार्वत्रिक हैं, फिर भी किसी भगवदवतार, अर्चाविग्रह, यज्ञ, तप आदिके प्राकट्यकी निमित्ततासे किसी कालविशेष और स्थलविशेषमें उनका व्यक्त होना एक ऐतिहासिक भूमिका है।

तीर्थ प्रकट ही होते हैं भगवान्, भगवदाविष्टचेता भक्तवृन्द या तपस्विजनोंके लीला, चरित्र तथा लोक-कल्याणमूलक-कार्य-पद्धतिको व्यक्त करनेहेतु। इस प्राकट्य-कालमें उनके आधिदैविक और आध्यात्मिक दोनों स्वरूप, आधिभौतिक स्थूल, भूखण्डात्मक स्वरूपसे समीकृत हुए रहते हैं, किंतु कालकी मर्यादा मानते हुए अपने निमित्तके तिरोहित हो जानेपर भौतिक जनोंके लिये इनके ये दो स्वरूप अव्यक्त हो जाते हैं, केवल तीसरा स्थूल-स्वरूप ही प्रकट रहता है। काल-क्रमानुसार इसमें भी अनेक परिवर्तन तथा विकार होते रहते हैं। प्रवहमान तीर्थ-सरिताएँ या ह्रदोंके स्रोत सूख सकते हैं या स्थान-परिवर्तन कर सकते हैं, वन नगर बन सकते हैं, सिद्धपीठ और दिव्य अमानुष अर्चा-विग्रह भी लुप्त हो सकते हैं, सिद्धपुरुषोंके तपोमय स्थलोंपर पाप-जीव प्राणी आकर बस जा सकते हैं या चमत्कारपूर्ण दिव्य-स्थल-विशेष सामान्य नागरिक आवास बनकर साधारण स्थानों-जैसे प्रतीत हो सकते हैं। ये सभी सम्भावनाएँ तमोयुग कलिके प्रादुर्भावके साथ ही घटित होने लगती हैं। पुराणोंके तीर्थ-वर्णन और माहात्म्य, तीर्थोंके नित्य-स्वरूपसे ही सम्बद्ध होनेके कारण साम्प्रतिक तीर्थ-स्थलोंमें पूर्णतया संगत नहीं होते, फलतः आधुनिक आलोचक और अन्वेषक इनको कोरी कल्पना या अतिरंजित वर्णन कह देनेमें भी नहीं हिचकते। अब यहाँ तीर्थोंके सम्बन्धमें कुछ विशेष बातोंका उल्लेख किया जाता है।

तीर्थोंके स्वरूप, भेद और माहात्म्य—यों तो ब्रह्माण्डके कण-कण और अपरिसीम कालके क्षण-क्षणमें **'अणोरणीयान् महतो महीयान्'** श्रुतिसे उपलक्षित

परमात्माका ही निवास है, अतएव भगवद्भावसे देखनेपर सारा विश्वप्रपंच, विश्वके सम्पूर्ण देश-काल, परम पवित्र और जीवको भगवन्मय बनानेकी योग्यता रखते हैं, फिर भी कुछ ऐसे स्थल—जिनमें सामान्य जीवोंकी अपेक्षा असाधारण योग्यता एवं प्रभाववाले महापुरुषोंने कोई आध्यात्मिक उपलब्धि या लोकमंगलका कार्य सम्पन्न किया होता है और उस उपलब्धि या कार्यका भावात्मक स्वरूप जागरित होकर जहाँके वातावरणको चेतनाके समीप ला खड़ा करता है, तीर्थ कहलाते हैं। प्रत्येक भाव जो दैवीजगत्की गतिविधियोंसे सम्बद्ध है, आकस्मिक नहीं अपितु नित्य है। प्रकृतिके विभिन्न भाव-स्तरोंमें उसकी एक स्वतन्त्र अवस्थिति है। उसी प्रकार उस भावका अधिष्ठाता एक चेतन भी है। मर्त्यधरामें अधिकारविशेषको प्राप्तकर वह भाव उद्भूत होता है और जिस परिच्छिन्न स्थलमें उसका प्रचार होता है, वह तद्भावभावित तीर्थ कहलाता है। तत्तद्भावका अधिष्ठाता चेतन ही उस-उस तीर्थका अधिदेवता माना जाता है, इस भावका सर्वभावाश्रय परमात्मासे जो सम्बन्ध होता है, वही उस तीर्थविशेषका आध्यात्मिक स्वरूप है। इस प्रकार मूल-भावके त्रिविध स्तरोंका प्रस्तार, जो साधारण जीवोंके अन्य जागतिक मनोभावोंको अपनेमें एकीकृत कर लेनेकी शक्ति रखता है—पुण्यस्थल या तीर्थ बनकर विशेष माहात्म्य प्राप्त कर लेता है। स्थूल-रूपमें भी इन भावोंको विभिन्न पार्थिव पदार्थ, पृथक्-पृथक् या सम्मिलित रूपसे वहन करते हुए देखे जाते हैं, इसीलिये जलतीर्थ, स्थलतीर्थ, शैलतीर्थ आदि तीर्थोंके पृथक् या परस्पर सम्मिश्रित अनेक भेद हो जाते हैं और उन-उन स्थूल पदार्थोंद्वारा भावोद्भूतिकी तीव्रताके कारण उनके माहात्म्योंमें भी विशेष अन्तर या दृष्टिकोण-भेद देखा जा सकता है।

तीर्थ और भगवद्धाम—'ईशावास्यमिदं सर्वम्' (ईशोपनिषद् १।१)-के अनुसार तो यह सम्पूर्ण परिदृश्यमान प्रपंच ही भगवद्धाम आलय या तेज है, (क्योंकि 'धाम' शब्दके दोनों अर्थ मान्य हैं), फिर भी यहाँ इस शब्दसे भगवान्के भावानुरूप विग्रह-लीलाके नित्य-धामों अर्थात् 'गोलोक, वैकुण्ठ, साकेत, शिवलोक, देवीलोक' आदिका ग्रहण ही अभीष्ट है। भगवान्के जिस-जिस विग्रहका अवतरण लोकमें जब-जब होता है, तब-तब उनके नित्यस्वरूपके साथ-साथ उनका नित्यधाम भी प्रकट होता है। यह अपनी स्वाभाविक स्थिति और समृद्धिमें तभीतक रहता है, जबतक उस 'अवतार'का कार्यकाल होता है, पश्चात् उस पार्थिव भूखण्डमें उसकी छायामात्र शेष रह जाती है। सच्ची बात यह है कि हमारे भूमण्डलके इस कर्मभूमि भारतवर्षमें ही प्रायः प्रधान-प्रधान भगवदवतार हुआ करते हैं, अतएव इसके कतिपय भूखण्डोंमें भावानुसार उन-उन भगवद्धामोंकी छाया सदैव रहती है।

पार्थिव वृन्दावनमें गोलोकके नित्य वृन्दावन और अयोध्यामें नित्य साकेतकी छाया सर्वदा रहती है, इसीलिये भगवान् कृष्ण और रामके अवतार जब होंगे, यहीं होंगे। अवतार-कालके बाद भी ये भूखण्ड चिन्मय लोकोंकी छायामें रहनेके कारण चिन्मय और नित्य माने जाते हैं। इसलिये भावुक भक्त इनका सेवन करके प्रत्येक कालमें भगवान्के उन-उन अवतारोंके लीला-तत्त्व और नित्य विग्रहका साक्षात्कार करनेमें सफल हुए हैं। साधारण तीर्थोंकी अपेक्षा इनका महत्त्व विशेष माना जाता है; क्योंकि आध्यात्मिक और आधिदैविक-रूपमें इनकी पूर्ण परिणति नित्य भगवत्तत्त्वमें ही हैं। इसीलिये भगवद्धाम पापमुक्तिके साथ पूर्ण मुक्ति या भगवत्प्रीतिका दान करनेमें भी समर्थ माने गये हैं।

तीर्थ और नित्यपीठ या जाग्रद् अर्चाविग्रह— तीर्थोंमें अनेक स्थल जाग्रद् पीठ माने जाते हैं, जहाँ मन्त्रसिद्धि और उपासना विशेष फल देनेवाली सिद्ध होती है। भारतवर्षके कामाख्या आदि शक्तिपीठ, द्वादश ज्योतिर्लिंगोंके शैव-स्थल और दारुब्रह्मकी प्रधानता तथा शालग्राम-शिलाके प्रभाववाले वैष्णव-तीर्थ क्रमशः जगन्नाथपुरी और गण्डकी-तटवर्ती प्रान्त, नर्मदेश्वर शिवविग्रहोंका प्राप्य-स्थल नर्मदा एवं उसका पाषाण-समूह, तुलसीके आधिक्यसे उपरंजित वृन्दावन आदि ऐसे ही तीर्थ हैं, जो नित्य-जाग्रत् तथा चिन्मय अर्चाविग्रहोंसे युक्त अमर्त्य तीर्थस्थल हैं। अन्य साधारण तीर्थोंकी अपेक्षा उपासना या मन्त्रसिद्धि इन स्थलोंपर अधिक सुकर होती है, किंतु भगवद्धामोंकी अपेक्षा इनका महत्त्व कुछ न्यून और अल्प-फलद ही माना जाता है; हाँ,

यदि इनमें निष्काम भावसे भगवदुपासना की जाय तो ये प्राणीको नित्यधाममें निवास करनेकी योग्यता देकर परम्परया भगवद्भक्ति प्रदान करनेमें भी समर्थ होते हैं। इनमें कुछ भक्तिप्रधान, कुछ ज्ञानप्रधान तथा कुछ उपासनाप्रधान पीठ होते हैं। मोक्षदायिनी सप्तपुरियाँ प्राय: इसी तीर्थ-कोटिमें अन्तर्भुक्त हो जाती हैं। वैसे इनमें कुछ स्थल ऐसे भी हो सकते हैं, जो एक ही साथ कई विशेषताएँ भी रखते हों, अर्थात् जो भगवद्धाम या लीलाक्षेत्र भी हों और जाग्रत् अर्चाविग्रहोंसे युक्त सिद्धपीठ भी हों, जैसे काशी, वृन्दावन या जगन्नाथपुरी। स्पष्ट है कि ऐसे स्थलोंका प्रभाव और महत्त्व अन्योंसे अपेक्षाकृत अधिक मान्य है, यही काशी आदि कुछ तीर्थोंके माहात्म्यातिशयका कारण है।

तीर्थ और तीर्थराज—सनातन (हिन्दू) धर्मसे थोड़ा भी परिचय रखनेवाला व्यक्ति यह जानता है कि इस धर्मके अनुसार गंगा-यमुना और सरस्वती—इन तीन पुण्य सरिताओंके संगमपर स्थित सुप्रसिद्ध प्रयाग केवल तीर्थ नहीं, अपितु 'तीर्थराज' माना जाता है। प्राचीन पौराणिक साहित्यका अवलोकन करनेपर इस वैशिष्ट्यकी तात्त्विकता भी समझमें आ जाती है। पृथ्वीमें जो तीर्थ सामान्यत: देखे जाते हैं, उनमें किसी एक ही दिव्य नदी (चाहे वह गंगा हो या यमुना अथवा सरस्वती)-का प्रवाह उनके तीर्थत्वका साधक होता है। तीर्थमें जलाशयका होना यों भी आवश्यक है। जलाशयके बिना तीर्थयात्राकी स्नान, दान-श्राद्ध-तर्पणादिरूप सांगता-सिद्धि असम्भव हो जायगी। प्रत्येक तीर्थमें कोई सरोवर, ह्रद, स्रोत, नदी या दिव्य नदीका होना आवश्यक है। इनमें जो तीर्थ अधिक प्रथित हैं, वे कुछ सरस्वतीके तटवर्ती कुछ अनुगांग (गंगाके किनारेवाले) तथा कुछ अनुयामुन (यमुना-प्रान्तवर्ती) ही हैं, किंतु प्रयागमें इन तीनोंकी पुण्य धाराएँ एकत्र सम्प्राप्त हैं। इतना ही नहीं, इन तीनोंके पवित्र संगमसे यहाँ एक चौथी दिव्य सरिता त्रिवेणीका भावात्मक एवं स्वरूपात्मक निर्माण हो जाता है। ध्यातव्य है कि त्रिवेणी संज्ञा इनकी प्रयागके अतिरिक्त अन्यत्र नहीं देखी जाती, जबकि तीनोंके मिले होनेके कारण काशी आदिमें प्राप्त गंगाको भी यह संज्ञा दी जा सकती थी। इसमें हमारी दृष्टिसे एक आध्यात्मिक कारण है, वह यह कि आद्य कर्मभूमि केवल प्रयागकी पुण्यस्थली है। सृष्टिकर्ता ब्रह्माके द्वारा सृष्टि-समुत्पादनहेतु प्रथम यज्ञ जहाँ सम्पादित हुआ, वही स्थल प्रयाग कहलाया।

यहाँ विशुद्ध सत्त्वरूप हरिद्वारसे ज्ञानरूप गंगा, कर्मरूप कालिन्दी एवं भक्तिरूप सरस्वतीकी जो धाराएँ पृथक्-पृथक् चलकर अनेक भूमि या चित्त-भूमिकाओंको भावित करती हुई त्रिविध मार्गोंके रूपमें अपनी-अपनी दिशाओंसे आपतित होती हैं, उनका एक समन्वयात्मक स्वरूप 'त्रिवेणी' के रूपमें यहाँ दृष्ट होता है।

प्रयागका त्रिवेणी-तट भावात्मक एवं भौतिक दोनों दृष्टियोंसे त्रिधाभावसमन्वित जीवन-पद्धतिका निदर्शन है। भारतीय गार्हस्थ्य एवं वानप्रस्थ आश्रमचर्याका उपदेष्टा प्रयाग ही है। इसके आगे यह त्रिवेणी एकमात्र ज्ञानरूप गंगा बन जाती है, इसीलिये इसके आगेका तीर्थ काशी, निवृत्तिमार्गीय यतिधर्मका उपोद्बलक तीर्थ माना जाता है।

प्रयागका अक्षयवट अखण्ड-सत्ताका प्रतीक है, मार्कण्डेयका चिरजीवन और विराट्स्वरूप बालमुकुन्दकी 'एकार्णव-लीला' यहाँ प्रलयमें भी अखण्ड जिजीविषाका प्रतिनिधित्व करती हुई '**जीवेम शरद: शतम्**' की वैदिक ऋचाको सार्थक करती है, जबकि काशी इसके अनन्तरकी भूमिका 'मुमुक्षा' को ही सिद्ध करती है। इसीलिये प्रयाग धर्माविरुद्ध यज्ञमय जीवनकी 'भुक्ति' को प्रतिपादित करता है और काशी 'मुक्तिजन्म' तीर्थ माना जाता है।

भगवद्धामों एवं काशी आदि कुछ तीर्थोंको छोड़कर यह प्रजापति-क्षेत्र प्रयाग सबसे श्रेष्ठ माना गया है। संक्षेपमें कहें तो काशी है प्रलयंकर रुद्रका महाश्मशान और प्रयाग है आदिसृष्टिकी जन्मस्थली। सृष्टिको महत्त्व देनेपर इस दृष्टिसे काशीसे भी यह अधिक स्पृहणीय सिद्ध हुआ है। इसीलिये कुम्भ, अर्धकुम्भ आदि पर्वोंका स्वरूप जितना यहाँ है, उतना अन्यत्र नहीं देखा जाता।

तीर्थ-तत्त्व अत्यन्त गहन और सूक्ष्म है। इन सीमित पंक्तियोंमें हमने उसका स्थूलरूप संकेतित करनेका प्रयासमात्र किया है। आज समय आ गया है कि हम तीर्थोंकी प्रतिष्ठाको पुन: स्थापित करके जनजीवनमें तीर्थ और तीर्थयात्राके उज्ज्वल पक्षको स्पष्ट करें।

सत्यं शिवं सुन्दरम्

(ब्रह्मचारी श्रीत्र्यम्बकेश्वरचैतन्यजी महाराज, अखिल भारतवर्षीय धर्मसंघ)

जो सत्य है, वही कल्याण (शिवं=कल्याण)-का हेतु है तथा वही सुन्दरताका द्योतक भी है। ये तीनों पृथक्-पृथक् रह ही नहीं सकते। अब प्रश्न बनता है कि—**सत्य क्या है?** यथाश्रुत, यथादृष्ट, यथानुभूत वृत्तान्तका यथावत् आख्यान ही सत्य है। लोक-व्यवहारमें जैसा सुना, देखा, अनुभव किया गया; ठीक वैसे ही (बिना किसी मिलावटके) कहना सत्य माना जा सकता है।

शास्त्रोंमें आया है कि—**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।**

सत्यं ब्रूयात्=सत्य बोलो, परंतु नियम लगाया, **प्रियं ब्रूयात्**=प्रिय भावसे, हित बुद्धिसे ही सत्य बोलो, **न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्**=अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिये। अब प्रश्न उठता है कि क्या सत्य भी प्रिय हो सकता है अथवा सत्य प्रिय लगता है क्या? लोगोंकी तो धारणा है कि सत्य कड़वा होता है। जिनको सत्य बोलनेकी आदत-सी होती है, वे स्वयं अपने विषयमें कहते हैं कि मैं कड़वा बोलता हूँ, खरा बोलता हूँ। लगता भी ऐसा ही है कि सच बोलनेवालेका चेहरा तमतमाया, वाणी तीखी, आँखें तिरछी, सीना तना हुआ होता है, जबकि झूठ बोलनेवाला विनम्र-सा, सरल-सा, दुनियाभरकी मिठासमें मानो शब्दोंको डुबाकर बोल रहा हो।

प्रश्न—तब क्या सचमें सत्य कड़वा होता है?

उत्तर—सत्यसे बढ़कर मधुर, हितकारक, सुन्दर कोई हो ही नहीं सकता। सत्यके कड़वा लगनेके पीछे कारण है—

बोलनेवालोंकी आन्तरिक कड़वाहट, सुननेवालोंकी आन्तरिक कटुता तथा जुबानसे कानतक पहुँचनेमें बिचारे सत्यने जो बाहरी यात्रा की है। संसारमें विषकी तरह व्याप्त कड़वाहटके कारण ही सत्य कड़वा-जैसा लगता है। जैसे—विकृत पित्तवाले रोगीको मिश्री भी कड़वी लगती है। **कामिहि हरिकथा** कामासक्तको हरिकथा कड़वी लगती है।

शिव क्या है? शिव=कल्याण। जहाँ शिव नहीं वहाँ अशिव अर्थात् अकल्याण है। जबकि सत्यमें ही कल्याण निहित है, असत्यमें नहीं। अतः जो सत्य है, वही शिव है। जीवनकी समग्र विषमताओंके बीचमें जो समतापूर्ण जीवन जीता है, वही शिव है। जो समस्याकी बात ही नहीं करता, समाधानमें जीता है, वही शिव है। भगवान् शिवका पारिवारिक वातावरण शिक्षा देता है—शेर और बैल, मोर और नाग, नाग और चूहा—ये सब अपना स्वाभाविक वैमनस्य छोड़कर सदाशिवकी ममता-समतामयी छायामें सुखपूर्वक सहजतासे जी सकते हैं। घर-गृहस्थी, व्यापार, व्यवहार संसारकी विषमतामें भी समताका अमृत खोजना ही शिवको पाना है।

सुन्दरता क्या है?

सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा।

× × ×

जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा॥

सदाचारनिष्ठ, सत्यानुरागी, शास्त्रसेवी, सच्चरित्र व्यक्ति ही सुन्दर है, तनकी सुन्दरता पतनकी ओर ले जा सकती है, जबकि मनकी सुन्दरता उत्थानकी ओर ले जायगी। अर्थात् जिसका मन सुन्दर है, वही वास्तवमें सुन्दर है, मन उसीका सुन्दर होगा, जिसके जीवनमें कल्याणका दर्शन हो चुका होगा, और कल्याण उसीका सम्भव है, जिसका जीवन सत्य-गंगामें स्नानकर पावन हो चुका है।

सत्यं शिवं सुन्दरम्का अर्थ है कि हम अपने जीवनको सात्त्विकता-आस्तिकता तथा सादगीसे पूर्ण बनाकर कल्याण-प्राप्तिहेतु उसे भाव-सौन्दर्यसे सजा

लें। जो शक्ति-सामर्थ्य, योग्यता, क्षमता प्रभुने हमें दी है, उसे समाज-हितमें लगायें।

चिरागों को मुहब्बत है, विहसते इन उजालों से।
मकाँ अपना पराया हो, नहीं रिश्ता दिवालों से॥
हमेशा रोशनी देते, भले ही आँधियाँ आयें।
जिन्दगी तक फना करते, नहीं डरते सवालों से॥

हमारा जीवन सत्यके सौगन्ध्यसे, शिवत्वके औदार्यसे, सुन्दरके माधुर्यसे सुसज्जित होकर समाजका हित (समाजकी सेवा) करनेको उद्यत हो। एक भी व्यक्ति (बालक-बालिका) हमारेद्वारा सन्मार्गपर लगाया गया, दुर्व्यसनमुक्त हुआ, श्रमके सौरभसे उसका घर-आँगन महका, तो समझना कि आपने अपने मानव-जीवनको सार्थक किया है। अपने लिये जीना भी कोई जीना है क्या? अपने लिये तो पशु-पक्षी भी जीते ही हैं। फिर मनुष्य बननेका लाभ क्या हुआ? सत्यं शिवं सुन्दरम्का उद्घोष तब सार्थक होगा, जब यह जीवन-मन्त्र जीवनमें उतरेगा। विशेषकर आजके समयमें बहुत आवश्यकता है सुधीजनोंकी; सच्चरित्रताका पाठ अपने आचरणसे पढ़ानेवालोंकी; क्योंकि ये संक्रमणका काल है। भौतिक प्रगतिकी चाहमें अन्धा होकर दौड़ता हुआ व्यक्ति व्यक्तिगत सुख-सुविधाके लिये असत्य, अशिव और असुन्दरताकी गहरी खाईमें—दलदलमें फँसता जा रहा है। मेरे भाइयो-बहनो! आप भी अपने स्तरपर यथासम्भव प्रयास करें, जिससे कि समाजमें सत्यं शिवं सुन्दरम्की ज्योतिका प्रकाश हताश लोगोंके मनको विश्वासका आभास कराता रहे।

प्रायश्चित्त

(श्रीराजेशजी माहेश्वरी)

जबलपुरके पास नर्मदा नदीके किनारे स्थित गौरीघाट नामक कस्बेमें एक गरीब महिला भिक्षा माँगकर अपना जीवन-यापन करती थी। एक दिन वह बीमार हो गयी, किसी दयावान् व्यक्तिने उसे इलाजके लिये ५००रु०का नोट देकर कहा कि 'माई! इससे दवा खरीदकर खा लेना।' वह भी उसे आशीर्वाद देती हुई अपने घरकी ओर बढ़ गयी। अँधेरा घिरने लगा था, रास्तेमें एक सुनसान स्थानपर दो लड़के शराब पीकर ऊधम मचा रहे थे। वहाँ पहुँचनेपर उन लड़कोंने भिक्षापात्रमें ५००रु० का नोट देखकर शरारतवश वह पैसा अपनी जेबमें डाल लिया, महिलाको आभास तो हो गया था, पर वह कुछ बोली नहीं और चुपचाप अपने घरकी ओर चली गयी।

रातमें उसकी तबीयत और भी अधिक बिगड़ गयी और दवाके अभावमें उसकी मृत्यु हो गयी। सुबह होनेपर दोनों शरारती लड़के नशा उतर जानेपर अपनी इस हरकतके लिये खुदको शर्मिन्दा महसूस कर रहे थे। वे शामको उस भिखारिनको रुपये देनेके लिये इन्तजार कर रहे थे। जब वह नियत समयपर नहीं आयी तो वे पता पूछकर उसके घर पहुँचे, जहाँ उन्हें पता चला कि दवा न खरीद पानेके कारण वृद्धाकी मृत्यु हो गयी थी। यह सुनकर वे स्तब्ध रह गये कि उनकी एक शरारतने किसीकी जान ले ली थी। इससे उनके मनमें स्वयंके प्रति घृणा और अपराधबोधका आभास होने लगा।

उन्होंने अब कभी भी शराब न पीनेकी कसम खायी और शरारतपूर्ण गतिविधियोंको भी बन्द कर दिया। उन लड़कोंमें आये इस अकस्मात् और आश्चर्यजनक परिवर्तनसे उनके माता-पिता भी आश्चर्यचकित थे। जब उन्हें वास्तविकताका ज्ञान हुआ तो उन्होंने हृदयसे मृतात्माके प्रति श्रद्धांजलि व्यक्त करते हुए अपने बच्चोंको कहा कि तुम जीवनमें अच्छे पथपर चलो और वक्त आनेपर दीन-दुखियोंकी सेवा करनेसे कभी विमुख न होओ, यही तुम्हारे लिये सच्चा प्रायश्चित्त होगा।

तीर्थ-दर्शन—

पावन स्थल—सम्भल तीर्थ

(दण्डी स्वामी श्रीसुखबोधाश्रमजी महाराज)

यद्दोर्दण्डकरालसर्पकवलज्वालाज्वलद्विग्रहा
यत्तत्सत्करवालदण्डदलिता भूपाः क्षितिक्षोभकाः।
शश्वत्सैन्धववाहनो द्विजजनिः कल्किः परात्मा हरिः
पायात् सत्ययुगादिकृत् स भगवान् धर्मप्रवृत्तिप्रियः॥

(कल्किपुराण १।१।३)

'जो भुजदण्डरूप कराल सर्पके ग्रासकी विषाक्त ज्वालासे जलते हुए शरीरवाले एवं पृथ्वीको क्षुब्ध करनेवाले भूपालोंका [भविष्यमें] अपनी उत्तम तलवारसे संहार करेंगे, घोड़ा ही जिनका सनातन वाहन है, जो सत्ययुगके आदि कर्ता हैं, धर्मकी प्रवृत्ति जिन्हें प्रिय है और जो ब्राह्मण-वंशमें अवतीर्ण होंगे, ऐसे कल्कि नामसे विख्यात परात्मा भगवान् श्रीहरि जगत्की रक्षा करें।'

सम्भलक्षेत्रके सम्बन्धमें एक पौराणिक आख्यान मिलता है। वह आख्यान इस प्रकार है—नैमिषारण्यमें शौनकादि महर्षियोंने बारह वर्षमें समाप्त होनेवाले यज्ञका आरम्भ किया था। वहाँ श्रीसूतजीके पधारनेपर महर्षियोंने उनसे यह प्रश्न किया कि राजा परीक्षित्का निर्वाण हो जानेपर कलियुगका आदि, मध्य और अन्त किस प्रकार हुआ?

श्रीसूतजीने उत्तर दिया कि श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्को कथा सुनाकर उनकी पूजा स्वीकारकर भिक्षुओंके साथ महर्षि मार्कण्डेयके आश्रममें आये और वहीं उन्होंने ऋषियोंके इस प्रश्नका समाधान किया था। श्रीशुकदेवजीसे अनुमति लेकर मैंने भी कलियुगकी आदि, मध्य, अन्तकथाओंको जैसे सुना था, वैसे ही आपको भी सुनाता हूँ—

प्रलयान्ते जगत्स्रष्टा ब्रह्मा लोकपितामहः।
ससर्ज घोरं मलिनं पृष्ठदेशात् स्वपातकम्॥

(कल्किपुराण १।१।१५)

प्रलयकालके अन्तमें जगत्की सृष्टि करनेवाले लोकपितामह ब्रह्माने अपनी पीठसे भयंकर मलिन पातककी

सृष्टि की, वह अधर्म नामसे विख्यात हुआ।

उस अधर्मका प्रचार आरम्भ होनेपर यज्ञ-दान-तप-स्वाध्याय, वर्णधर्म, आश्रम-धर्म लुप्त होने लगते हैं। धर्मका नामतक मिट जाता है। तब सब देवता यज्ञयागादिका आहार न मिलनेसे दुखी होकर ब्रह्माजीकी शरणमें जाते हैं। ब्रह्माजी भी इन सब देवताओंको साथ लेकर गोलोकमें पहुँचकर श्रीनारायणको भूमण्डलकी दुर्दशा सुनाते हैं। विष्णुभगवान् भी यह बात सुनकर सम्भलमें विष्णुयशा ब्राह्मणके यहाँ अपने अवतारका वचन देते हैं और अपनी सहायताके लिये देवताओंको भी आर्यावर्तमें अवतीर्ण होनेका निर्देश देते हैं। लक्ष्मीजी सिंहलद्वीपमें बृहद्रथ राजर्षिकी धर्मपत्नी कौमुदीकी कोखसे जन्म लेती हैं। इनका नाम 'पद्मा' होता है।

पौराणिक वर्णनके अनुसार उस समय सूर्यवंशके राजा 'मरु' और चन्द्रवंशके राजा 'देवापि' कल्कि-भगवान्की आज्ञाके अनुसार वर्णाश्रमकी मर्यादाओंको व्यवस्थित करते हैं। वैशाखमासके शुक्लपक्षकी द्वादशीके दिन कन्या-लग्नमें यह अवतार होता है। भगवान् चतुर्भुजरूपसे माता-पिताको दर्शन देकर ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे द्विभुज रूप धारण करते हैं।

इनके जन्मके समय नद, नदी, समुद्र, पर्वत आदि सभी स्थानोंमें शुभ शकुन हुए और चराचर विश्वमें प्रसन्नता छा गयी। कल्किभगवान् विशाखयूप राजाके साथ और अपने ज्येष्ठ भ्राताओं तथा बन्धु-बान्धवोंके साथ धर्मकी रक्षाके लिये विचार-विमर्श करने लगे।

शिवके द्वारा भेजे गये वेदमय शुकके माध्यमसे सिंहलद्वीपमें पद्मावतीके स्वयंवरका समाचार प्राप्तकर श्रीकल्किभगवान् उस स्वयंवरमें पधारे। लक्ष्मीरूपिणी पद्मावतीके प्रभावसे उस स्वयंवरमें आये हुए राजाओंको स्त्रीभावकी प्राप्ति हो गयी। पद्मावतीके साथ श्रीकल्कि-भगवान्का विवाह-संस्कार सम्पन्न होनेपर राजागण पुनः पुरुषभावको प्राप्त हुए और भगवान्की इस मायाका चमत्कार जाननेकी प्रार्थना की। तभी अनन्त नामके मुनिने प्रकट होकर अपने जन्मकी कथा सुनाकर समझाया कि अघटित-घटनापटीयसी भगवान्की मायामें सब कुछ सम्भव है। स्त्री, पुरुष, नपुंसक, देश, काल, वस्तु—ये सब कल्पित पदार्थ हैं। भगवान्की शरणागति ही जीवोंके कल्याणका एकमात्र साधन है। यह सुनकर भगवद्भक्तिमें विभोर होकर सभी राजा अपने-अपने देशको चले गये।

इधर पद्मावतीको साथ लेकर भगवान् कल्किने सम्भलमें प्रवेश किया। विश्वकर्माके द्वारा उस समय इन्द्रकी अमरावतीके समान सम्भलकी शोभा हुई। कुछ समयके अनन्तर कल्किभगवान्के यहाँ पद्मावतीने 'जय-विजय' नामक दो पुत्रोंको जन्म दिया। कल्किभगवान्के अन्य भ्राताओंके यहाँ भी दो-दो पुत्रोंका जन्म हुआ। फिर कुछ समय बाद कल्किभगवान्के पिता विष्णुयशाके द्वारा अश्वमेध-यज्ञ सम्पन्न हुआ। सूर्यवंशके राजा मरु और चन्द्रवंशके राजा देवापिने भी उसी समय उपस्थित होकर कल्किभगवान्की आज्ञासे धर्म-विरोधियोंका संहार किया और धर्मकी स्थापना तथा सत्ययुगका प्रवर्तन किया। इस कल्किपुराणीय कथानकमें और भी अनेक कथा-प्रसंग स्थित हैं, जिनमें परशुरामजीद्वारा निर्दिष्ट रुक्मिणी-व्रतकी महिमासे कल्किपत्नी रमाको पुत्रकी प्राप्ति, ब्रह्मा आदि देवताओंका कल्किभगवान्के दर्शनके लिये सम्भलमें उपस्थित होना, श्रीगंगाजीकी स्तुति करके ऋषियोंका वहाँ आना, मरु और देवापिके हाथोंमें पृथ्वीकी रक्षाका भार सौंपकर कल्किभगवान्का अपने वैकुण्ठधामके लिये प्रस्थान करना आदि विषयोंके साथ कल्किपुराणके पाठ और श्रवणके माहात्म्यका वर्णन प्रमुख प्रसंग हैं। श्रीहरिकी यह अवतारकथा परममंगलकारिणी है। जैसा कि कल्किपुराणमें कहा भी गया है—

अवतारं महाविष्णोः कल्केः परममद्भुतम्।
पठतां शृण्वतां भक्त्या सर्वाशुभविनाशनम्॥

(कल्किपुराण ३। २०। १६)

'कल्कि महाविष्णुके परम अद्भुत अवतारकी यह कथा भक्तिपूर्वक पढ़ने और सुननेवालोंके सभी अमंगलोंका

नाश करनेवाली है।'

सम्भल-तीर्थका नाम, उसकी प्राचीनता और विशेषता

सृष्टिके आरम्भमें ही विश्वकर्माने अड़सठ तीर्थों और उन्नीस पुण्य-कूपोंके सहित इस सम्भलतीर्थका निर्माण किया था।

सत्ययुगमें इसका नाम 'सत्यव्रत' था, त्रेतामें 'महद्गिरि', द्वापरमें 'पिंगल' और अब कलियुगमें 'शम्भल' है। चारों युगोंमें सम्भलके इन चार नामोंका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थोंमें मिलता है। शम्भलकी आजकल 'सम्भल' नामसे ही प्रसिद्धि है। सम्भल माहात्म्य और अन्यान्य पुराणोंमें भी तालव्य शकारसे 'शम्भल' नामका निर्देश है, किंतु आजकल दन्त्य सकारवाला 'सम्भल' नाम ही प्रचलित है। भाषा-विज्ञानके अनुसार उच्चारणकी सरलता इस परिवर्तनका कारण है। बहुत-से लोग तालव्य शकारका उच्चारण कर ही नहीं पाते। कहते हैं कि 'शम्भल' और 'सम्भल' दोनों 'शम्भ्वालय' शब्दके अपभ्रंश हैं। यद्यपि मूलग्रन्थोंमें शुद्ध शब्द 'शम्भ्वालय' ही प्रयोग होना चाहिये था, फिर भी वैसा न करके अपभ्रंश 'शम्भल' नामके प्रयोगका एक रहस्य है। बात यह है कि भारतकी प्राचीन शिष्टाचारपद्धतिमें अत्यन्त आदरणीय व्यक्तियोंका प्रत्यक्ष नामोल्लेख अनुचित माना गया है। आज भी गुरुजनोंके नामका स्पष्ट निर्देश नहीं किया जाता। 'शम्भ्वालय' शब्दसे 'शम्भुका आलय' यह अर्थ स्पष्ट भावित हो जाता है। इसे गुप्त रखनेके लिये ही इस स्थानको 'शम्भल' कहा जाता है। कहा भी है—'**परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः।**'

सम्भल अत्यन्त प्राचीन कालसे नित्य भगवद्धामके रूपमें विख्यात रहा है। अर्वाचीन शोधकर्ताओंने भी इसपर व्यापक रूपसे प्रकाश डाला है। उनके अनुसार छठी शताब्दीमें हर्षके शासनकालमें सम्भलमें ब्राह्मणोंकी प्रधानता थी और उनके माध्यमसे ज्ञानका सूर्य सम्भलमें उदयाचलके शिखरपर चमक रहा था।

डॉ० ब्रजेन्द्रमोहन शांख्यधरके अनुसार ईसाकी बारहवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें पृथ्वीराज चौहानका सम्भलमें आधिपत्य था। उनकी सुपुत्री बेला वहाँ सती हुई थी। शत्रुओंपर आक्रमण करनेके लिये और उनके आक्रमणोंसे बचनेके लिये सम्भलके वातावरणको अपने अनुकूल देखकर पृथ्वीराजने सम्भलको अपनी राजधानी भी बनाया था। उन्होंने सुरंगोंके माध्यमसे भी अपनी रक्षाका प्रबन्ध किया था। प्रसिद्धि है कि यहाँ दिल्ली, अजमेर और कन्नौजको जानेवाली सुरंगें थीं। खुदाई होनेपर अब भी कहीं-कहीं उनके चिह्न मिलते हैं।

सम्भल-माहात्म्यके पढ़नेसे पता चलता है कि पूरा सम्भल हरि-मन्दिर ही है। इसके तीनों कोनोंपर तीन शिवलिंग स्थापित हैं। दक्षिणमें सम्भलेश्वर और पूर्वमें चन्द्रेश्वर है तो उत्तरमें भुवनेश्वर। इन तीन कोनोंवाले सम्भलकी बाहरी परिक्रमा चौबीस कोसकी है। प्रतिवर्ष कार्तिक शुक्लपक्षकी चतुर्थी-पंचमीको इस परिक्रमामें हजारों नर-नारी सम्मिलित होते हैं। भीतरके परकोटेका क्षेत्रफल बारह कोस है। इसके बारह कोसके भीतरी क्षेत्रमें अड़सठ तीर्थ और उन्नीस कूप हैं। इसके इतने बड़े आकारमें ब्रह्माजीका निवास है। इसके ठीक मध्यमें तलवार हाथमें लिये, घोड़ेपर सवार श्रीकल्कि भगवान्‌की दिव्यमूर्तिसे सुशोभित 'हरिमन्दिर' था। यह मध्यकालमें विधर्मी आक्रान्ताओंद्वारा ध्वस्त कर दिया गया। बादमें इन्दौरकी महारानी अहिल्याबाईने इस स्थानके निकट एक वैष्णव मन्दिरका निर्माण करवाया, जो अब श्रीविष्णु कल्किमन्दिर नामसे प्रसिद्ध है।

इस सम्भलमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों देवताओंका निवास यह सूचित करता है कि ये तीनों एक ही तत्त्व हैं, इनमें भेद नहीं है।

कल्किपुराण तृतीय अंश, १८ अध्याय, श्लोक ४ में उल्लेख है—

यत्राष्टषष्टितीर्थानां सम्भवः शम्भलेऽभवत्।
मृत्योर्मोक्षः क्षितौ कल्केरकल्कस्य पदाश्रयात्॥

उसके अनुसार जहाँ अड़सठ तीर्थोंका सम्भव हुआ है, वह तीर्थशिरोमणि सम्भल भगवान् कल्किके चरणोंके प्रतापसे मोक्षका धाम है। सम्भलमें ये सब तीर्थ अब भी हैं, पर सुधार आवश्यक है। सम्भलमें वैसे यहाँ सदैव सभी लोग एक परिवारकी तरह रहते चले आ रहे हैं और आशा है, आगे भी वैसे ही रहेंगे।

'मनुर्भव' की वैदिक अवधारणा

[मानसके विशेष परिप्रेक्ष्यमें]

(प्रो० श्रीबालकृष्णजी कुमावत)

ऋग्वेदके दसवें मण्डलके तिरपनवें सूक्तके छठें छन्द (जगती)-में 'मनुर्भव' का उल्लेख है, जिसका आशय है 'मनुष्य बनो'। सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या हम मनुष्य नहीं हैं? हमारी देह मनुष्यकी ही देह है, हम मनुष्यके रूपमें ही सर्वत्र जाने जाते हैं, फिर क्यों वैदिक ऋषि कहते हैं कि 'मनुष्य बनो'। जिज्ञासु शिष्योंद्वारा पूछनेपर ऋषियोंने उत्तर दिया कि मानवका तन प्राप्त होनेमात्रसे मानव मानव नहीं बनता। हम मनुष्य तभी कहला सकते हैं, जब हममें मनुष्यके गुण हों और मनुष्यका आचरण करते हों।

सही कहें तो आज हमारा महान् राष्ट्र भारत संक्रमणकालीन स्थितिसे होकर गुजर रहा है। प्राचीन और अर्वाचीनके बीच, पूर्व और पश्चिमके बीच तुमुल युद्ध छिड़ा हुआ है। वैचारिक संघर्ष तथा नवीनताके पुरजोर आग्रहने आर्य जीवनशैलीके समस्त प्राचीन उदात्त मूल्योंको ध्वस्त करनेका बिगुल बजा दिया है। पाश्चात्त्य संस्कृति एवं सभ्यताके तूफानने हमारे 'स्व' को ही निगल लिया है। हम इसके अत्यधिक अनुकरणके शिकार हो गये हैं। आज प्रत्येक भारतीय भोग, अर्थसंग्रह, ऐश-आराम एवं उपभोक्तावादी संस्कृतिके पीछे पागल होकर दौड़ रहा है। इस अन्धी दौड़में वह अपने विवेक, नीति, धर्म, संयम एवं मर्यादाको खो चुका है तथा मानवता एवं मर्यादाके स्थानपर पशुता एवं दानवताकी दिशाकी ओर अग्रसर हो गया है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि हमारा मानवीय भाव नीचे दब गया है और पशुत्वभाव एवं असुरत्वभाव हावी हो गया है। भारतकी महान् धरापर श्रेष्ठ चिन्तन-परम्पराकी उपेक्षा करके तथाकथित धर्मनिरपेक्षताकी बातें करते हुए, पाश्चात्त्य संस्कृतिका चोला ओढ़कर क्या हुआ? क्या हम प्रगतिशील एवं आधुनिक बननेके मोहके वशीभूत होकर पशु और दानव नहीं बन गये हैं? किसी शायरने ठीक ही लिखा है—

हम आये थे फूल चुनने बागे हयात में।
दामन उलझाके रह गये खारजार में॥

अर्थात् हम इस जीवनरूपी उपवनमें फूल चुनने यानी अच्छे कार्य करने आये थे, परंतु यहाँ आकर हमने अपना शरीर कँटीली झाड़ियोंमें उलझा दिया अर्थात् बुरे कर्म करने लगे।

श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें गोस्वामी तुलसीदासजीने इस बातको रेखांकित किया है कि बड़े भाग्यसे यह मनुष्य-शरीर मिला है। सब ग्रन्थोंने यही कहा है कि यह शरीर देवताओंको भी दुर्लभ है। यह साधनका धाम और मोक्षका द्वार है, इसे पाकर भी जिसने परलोक न बना लिया, वह परलोकमें दु:ख पाता है, सिर पीट-पीटकर पछताता है तथा अपना दोष न समझकर कालपर, कर्मपर और ईश्वरपर मिथ्या दोष लगाता है—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

(रा०च०मा० ७।४३।७-८, ७।४३)

अर्थात् मनुष्य-देह धारणकर भी मनुष्य नहीं बने, मनुष्यका आचरण नहीं किया आसुरी वृत्तिमें व्यर्थ जीवन गवाँ दिया, यह वास्तवमें एक चिन्ताका विषय है। हमारे ऋषियोंने आचारको परम धर्म माना है—'**आचारः परमो धर्मः**'। आचारहीन मनुष्यको वेद भी पवित्र नहीं करते—'**आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः**' (विष्णुधर्मो० ३।२५१।५)

हमारे शास्त्रोंमें कहा गया है कि जिन लोगोंके जीवनमें न विद्या है, न तप है, न दान है, न शील है, न गुण है और न धर्म—ऐसे मनुष्यका रूप धारणकर विचरण करते हुए पशुसदृश लोग इस पृथ्वीपर बोझके समान हैं—

येषां न विद्या न तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

सन्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजीको समाज-सुधारका महान् प्रवर्तक कहा जाता है। उन्होंने श्रीरामचरितमानस एवं अन्यान्य रचनाओंमें समाज-सुधारको ही केन्द्रमें रखा है। कलि-धर्मकी विभीषिकाका जो वर्णन श्रीरामचरितमानसमें आया है, उसके बाद आदर्श जीवन-शैली एवं मनुर्भवकी वैदिक अवधारणाका निरूपण 'रामराज्य' के आदर्श रूपमें करके उन्होंने समूचे विश्वको एक दिव्य आदर्शका दर्शन कराया है, जिसे विश्वके सभी देशोंमें प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। 'रामराज्य' एक संज्ञा नहीं, विशेषण बन गया है। विश्वके महान् विचारकों तथा महात्मा गाँधीने भी इसे जीवनका प्रमुख लक्ष्य माना।

'मनुर्भव' की अवधारणाकी समस्त बातें रामराज्यमें विद्यमान थीं। श्रीरामचन्द्रजीके राजा होनेसे तीनों लोक हर्षित हुए और तीनों लोकोंमें समस्त शोक दूर हो गये। कोई किसीसे वैर नहीं करता। श्रीरामचन्द्रजीके प्रतापसे विषम भाव जाता रहा और समताका भाव आ गया। श्रीरामजीके राज्यमें दैहिक, दैविक एवं भौतिक कष्ट किसीको नहीं व्यापते थे, सब लोग परस्पर प्रेम करते थे। वैदिक मर्यादा तथा स्वधर्मका पालन करते थे। धर्म अपने चारों चरणों (सत्य, शौच, दया, दान)-में जगत्‌में परिपूर्ण हो रहा था, स्वप्नमें कभी कहीं पाप नहीं था। पुरुष और स्त्री सभी रामभक्तिमें परायण थे और मोक्षके अधिकारी थे। श्रीरामजीके राज्यमें किसी बातका भय नहीं था, न शोक था और न ही कोई रोग सताता था। रामराज्यमें छोटी अवस्थामें मृत्यु नहीं होती, सब पूर्ण आयुका भोग करते थे, किसीको कोई पीड़ा नहीं होती, सबका शरीर सुन्दर और नीरोग था। न तो कोई दरिद्र था, न दुखी और न ही दीन था। न कोई मूर्ख था और न शुभलक्षणोंसे हीन था। रामराज्यमें कभी विधवाओंका क्रन्दन नहीं हुआ। वृद्धोंके रहते बालकोंकी मृत्युका भय नहीं था। रामराज्यमें मरण-कालमें भी कष्ट नहीं होता था। 'लक्षणहीन' होना पापका फल है और तब पाप कोई करता ही नहीं, अतः लक्षणहीन नहीं था। सब दम्भरहित, धर्मपरायण और पुण्यात्मा थे। पुरुष और स्त्री सभी प्रवीण तथा गुणवान् थे। रामजीके राज्यमें सभी लोग गुणोंका आदर करनेवाले एवं पण्डित थे, सभी ज्ञानी थे तथा सभी दूसरेका उपकार माननेवाले थे। कपट एवं धूर्तता किसीमें नहीं थे। जड़, चेतन सारे जगत्‌में काल, कर्म, स्वभाव और गुणोंसे उत्पन्न हुए दुःख किसीको भी नहीं होते थे।

राम राज बैठें त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥
बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥
बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥
राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी॥
अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥
सब निर्दंभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥

रामजीके राज्यमें शठ, वाचाल, ठग, हिंसक, पाखण्डी, भाँड़, वेश्या तथा मद्य पीनेवाला नहीं था। श्रीरामजीको प्रजा प्राणप्रिय थी, तभी तो कालादिकृत दुःख किसीको व्याप्त नहीं होते थे। काल, कर्म, गुन तथा स्वभाव इन चारोंके द्वारा जीवोंको कष्ट होते हैं। शीत, उष्ण आदि दुःख कालद्वारा होते हैं, रोग आदि दुःख कर्मसे होते हैं, शस्त्रघातादिक दुःख स्वभावकी क्रूरतासे होते हैं तथा मान-अपमान आदि दुःख रज, तम आदि गुणोंसे होते हैं। रामराज्यमें ये सब दुःख नहीं होते। वनोंमें वृक्ष सदा फूलते-फलते थे। हाथी और सिंह वैर भुलाकर एक साथ रहते थे। पक्षी और पशु सभीने स्वाभाविक वैर भुलाकर परस्पर प्रेम बढ़ा लिया। पक्षी मीठी बोली बोलते, भाँति-भाँतिके पशुओंके समूह वनमें निर्भय विचरते—आनन्द करते। शीतल, मन्द सुगन्धित पवन चलता रहता। भौंरे पुष्पोंका रस लेकर चलते हुए

गुंजार करते जाते। बेलें और वृक्ष माँगनेसे ही मधु (मकरन्द) टपका देते। गौएँ मनचाहा दूध देतीं। धरती सदा खेतीसे भरी रहती। त्रेतामें सतयुगकी स्थिति हो गयी।

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥
कूजहिं खग मृग नाना बृंदा। अभय चरहिं बन करहिं अनंदा॥
सीतल सुरभि पवन बह मंदा। गुंजत अलि लै चलि मकरंदा॥
लता बिटप मागें मधु चवहीं। मनभावतो धेनु पय स्त्रवहीं॥
ससि संपन्न सदा रह धरनी। त्रेताँ भइ कृतजुग कै करनी॥

भगवान् श्रीरामकी नरलीलाके प्रत्येक क्षेत्रमें वैदिक अवधारणा 'मनुर्भव'के दर्शन होते हैं। मनुष्यको कब, कहाँ, कैसा आचरण करना चाहिये, इसका सांगोपांग प्रतिपादन गोस्वामीजीने श्रीरामकी नरलीलामें किया है, ताकि जन-सामान्य भी वैसा ही आचरण अपने जीवनमें करे। श्रीमद्भगवद्गीताके तीसरे अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें कहा गया है कि श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाणित कर देता है, समस्त जनसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

श्रीरामचन्द्रजी अनन्त हैं, उनके गुण भी अनन्त हैं, उनकी कथाओंका विस्तार भी असीम है। श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें भगवान् शंकरने पार्वतीजीको कहा कि श्रीरामके चरित्र सौ करोड़ (अथवा) अपार हैं। श्रुति और शारदा भी उनका वर्णन नहीं कर सकते। भगवान् राम अनन्त हैं, उनके गुण अनन्त हैं, जन्म, कर्म और नाम भी अनन्त हैं। जलकी बूँदें और पृथ्वीके रज-कण चाहे गिने जा सकते हों, पर श्रीरघुनाथजीके चरित्र वर्णन करनेसे नहीं समाप्त होते।

रामचरित सत कोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनै पारा॥
राम अनंत अनंत गुनानी। जनम कर्म अनंत नामानी॥
जल सीकर महि रज गनि जाहीं। रघुपति चरित न बरनि सिराहीं॥

'श्रीरामचन्द्रके गुणोंकी कोई सीमा नहीं है। उनमें अनन्त गुण हैं। लेकिन उनमेंसे एक भी गुण मनुष्यके लिये दुर्लभ नहीं है। सभी गुण ग्रहणीय और अनुकरणीय हैं।' उन्होंने लिखा है कि 'श्रीरामचन्द्रजी सदा शान्त रहते थे। वे ऐसे मीठे वचन बोलते थे, जिनमें सुननेवालोंके प्रति स्नेह, सान्त्वना और सहानुभूति भरी रहती थी।

यदि कोई एक बार भी श्रीरामचन्द्रका उपकार कर देता तो वे उसको सदा याद रखते थे, कभी भूलते नहीं थे। उनका अपने मनपर इतना नियन्त्रण था कि चाहे कोई उनके प्रति सैकड़ों अपराध करे, लेकिन वे एक अपराधको भी याद नहीं रखते थे।

श्रीरामचन्द्रजी परम बुद्धिमान् और व्यवहार-कुशल थे। जब कोई उनसे मिलता था तब वे बड़े प्रेमके साथ उससे बात करते थे और उसके बोलनेके पहले ही अपनी ओरसे बातचीत प्रारम्भ कर देते थे, जिससे कि उसको अपनी बात कहनेमें कोई संकोच न हो।

झूठी बात तो श्रीरामचन्द्रके मुखसे निकलती ही नहीं थी। वे सदा अपनेसे बड़े-बूढ़ोंका सम्मान किया करते थे। उनका प्रजाके प्रति बड़ा अनुराग था।

श्रीरामचन्द्र जो कुछ भी बोलते थे, अवसरोचित बोलते थे। इस बातका बराबर ध्यान रखते थे कि उनकी वाणीसे किसीको कोई उद्वेग न हो। अमंगलकारी वार्तालापमें उनकी कभी रुचि नहीं होती थी। उनको अकारण अपनी वाणीका अपक्षय करना पसन्द नहीं था।

श्रीरामचन्द्रके हृदयमें सद्गुरुओंके प्रति दृढ़ भक्ति थी। वे स्थितप्रज्ञ थे एवं उनका जीवन आलस्य एवं प्रमादसे सर्वथा रहित था।

श्रीरामचन्द्र शीलवृद्धों, ज्ञानवृद्धोंकी संगति इसलिये करते थे कि इनसे एक समझ मिलती रहती थी।

यहाँ ध्यान देनेयोग्य बात यह है कि हमें भी ऐसा करना चाहिये। वस्तुतः शील, सौजन्य, समता, असंगता, त्याग, तपस्या—ये सब सद्गुण मनुष्य-जीवनके सर्वस्व हैं और वे श्रीरामचन्द्रमें कूट-कूटकर भरे हुए थे। इन सद्गुणोंका महत्त्व समझे बिना न तो श्रीरामचन्द्रकी श्रेष्ठता समझमें आ सकती है और न जीवनमें उतर सकती है। भगवान् श्रीराम आदर्श गुणोंके भण्डार हैं, उनके गुणोंको हम अपने जीवनमें उतारकर 'मनुर्भव' की वैदिक अवधारणाको साकार कर सकते हैं।

चिकनगुनिया बुखार और उसका होम्योपैथिक निदान

(डॉ० श्रीअनिलकुमारजी गुप्ता, बी० एच० एम० एस०, एम० आर० सी० एस०, डी० एन० वाइ० एस०)

विभिन्न प्रकारके ज्वरोंमें एक ज्वर है—चिकनगुनिया; यह एक वायरसजनित बीमारी है। चिकनगुनियाका प्रकोप चुपकेसे फैलता है और लोगोंमें इसको लेकर अत्यन्त भ्रमकी स्थिति होती है, जैसे—यह है क्या, कैसे होता है, इसके लक्षण क्या हैं, कैसे बचाव किया जा सकता है या इसका निदान क्या है? बदलते मौसम, मच्छरोंके प्रकोप और शीतोष्ण सन्धिकालवाले मौसममें चिकनगुनियाका कहर काफी बढ़ जाता है। चिकनगुनिया वायरसका सीधा अटैक जोड़ोंपर होता है और लोग दर्दसे बेचैन हो जाते हैं।

चिकनगुनिया वायरस मच्छरोंके कारण फैलता है। एक बार इसकी चपेटमें आनेपर व्यक्तिकी हालत खराब हो जाती है। यह वायरस सबसे ज्यादा असर हड्डियोंपर डालता है, जिसके कारण व्यक्तिको चलने-फिरने या हाथोंसे किये जानेवाले साधारण कामको भी करनेमें काफी परेशानी होती है। ठीक हो जानेके बाद भी मरीज हड्डियोंके दर्दसे परेशान रहता है और दर्द जानेमें महीनोंका समय लग जाता है।

कारण—चिकनगुनिया बीमारी एडिस इजिप्टी नामक मादा मच्छरके काटनेसे फैलती है, इसी मच्छरके काटनेसे डेंगू भी फैलता है। यह मच्छर साफ पानीमें पैदा होता है। इन मच्छरोंके ऊपर धारियाँ होती हैं। ये प्रात:काल और शामके समय (दिन निकलनेसे पहले और दिन छुपनेसे पहले) ज्यादा काटते हैं।

लक्षण—तेज बुखार (१०४ डिग्री फारेनहाइटतक) होना, कुछ मामलोंमें ३-४ दिन बाद बुखार दोबारा चढ़ता है। जोड़ोंमें बहुत तेज दर्द होता है और यह महीनोंतक रह सकता है। इस बीमारीकी मुख्य पहचान तेज बुखारके साथ अचानक जोड़ोंमें सूजन आ जाना एवं उनमें अत्यन्त पीड़ा होना है।

इस दौरान उलटी, मिचली, सरदर्द, बदनदर्द, तेज बुखार, जोड़ोंमें असहनीय पीड़ाके साथ ३-४ दिनमें शरीरपर लाल चकत्ते भी हो जाते हैं।

बचाव—पूरा शरीर ढकनेवाले कपड़े पहनें। शरीरके खुले हिस्सोंपर मच्छरनाशक क्रीम लगायें। जितना सम्भव हो मच्छरदानी लगाकर सोयें। कमरेमें मच्छर भगानेवाले स्प्रे, मैट्स, कॉइल्स आदिका सावधानीपूर्वक प्रयोग करें।

मच्छरको पैदा होनेसे रोकें—कहीं खुलेमें पानी रुकने या जमा न होने दें। साफ पानीको पूरी तरह ढककर रखें। कूलरका इस्तेमाल बारिशके दिनोंमें बन्द कर दें। उसकी टंकी भी पानीसे खाली कर दें। छतपर टूटे-फूटे डिब्बे, टायर, बर्तन, बोतलें आदि न रखें या उलटा करके रखें। पानीकी टंकीको अच्छी तरह बन्द करके रखें। किचन और बाथरूमके सिंकमें भी पानी जमा न होने दें।

जाँच—चिकनगुनियाके लिये RT-PCR टेस्ट होता है। बुखार शुरू होनेके एक दिन बादसे लेकर कभी भी यह टेस्ट करा सकते हैं। वैसे एक बार चिकनगुनिया होनेपर सामान्यत: टेस्ट एक सालतक पॉजिटिव आता है। उस टेस्टके साथमें रक्तके टी०एल०सी०, डी०एल०सी०, प्लेटलेट्स काउण्ट-जैसे टेस्ट भी कराये जाते हैं।

होम्योपैथिक औषधीय निदान—चिकनगुनियाके होम्योपैथिक पद्धतिसे इलाजके लिये यूपेटोरिम पर्फ, ब्रायोनिया, बेलाडोना, एपिस जेल्सीमियम, रस टॉक्स, बैप्टिसिया, पैरोजिनम, फेरम फॉस, नक्स-वोमिका, अर्निका-जैसी दवाएँ तथा चिरायता आदिको लक्षणोंके अनुसार देनेपर रोगका समूल उच्छेद सम्भव हो पाता है। विशेष ध्यान देनेकी बात ये है कि दवाके साथमें पूर्णतया शारीरिक एवं मानसिक आराम किया जाय और तेज बुखार होनेपर मस्तकपर ठण्डे पानीकी पट्टी रखी जाय, गुनगुने पानीका अधिक सेवन किया जाय और पौष्टिक आहार लिया जाय।

ज्ञानप्राप्तिकी सात आधारभूत भूमिकाएँ

(डॉ० श्री के० डी० शर्माजी)

शास्त्रोंके अनुसार चेतनसे अभिभूत हुआ चित्त चेतनामय हो जाता है, जिससे चित्तमें अहंभावका स्फुरण हो जाता है और अहंका चित्तसे तादात्म्य हो जाता है। इस अवस्थामें 'मैं हूँ' की अनुभूति होती है और यह सीमित 'मैं' परिपुष्ट हो जाता है। इस 'मैं'के साथ ही 'मेरा'का जन्म होता है, जिससे यह चित्तगत चेतन (जीवात्मा) संसारकी ओर उन्मुख होता है और 'ममत्व'में आसक्त हो जाता है तथा संसारके भोगोंमें स्वयंको पूर्णरूपेण खो देता है। इस स्थितिमें जीवका शरीरमें ममत्व हो जाता है। जीव शरीरकी तृप्तिके लिये बाह्य विषयोंको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है और उनके मिल जानेपर भोगोंमें पूर्णरूपेण निमग्न हो जाता है। तब उसे निज स्वरूपकी विस्मृति हो जाती है। भर्तृहरिके शब्दोंमें—'**भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः**'। अर्थात् हम भोगोंको नहीं भोग रहे हैं, अपितु हम ही भोगोंद्वारा भोगे जा रहे हैं। इस अविद्याजन्य स्थितिमें अनेक जन्म बीत जाते हैं और आगे भी पता नहीं कितने जन्म बीत जायँगे। शास्त्र और सत्पुरुषोंका कथन है कि अनेक जन्मोंके प्रयत्नसे भी जब जीवको इस जगत्-प्रवाहमें कहीं सुख, शान्ति नहीं मिलती और वह पूर्णतया निराश हो जाता है, तब उसे जगत्, उसके कारण एवं निजस्वरूपको जाननेकी इच्छा होती है, जिसकी सम्पूर्ति ज्ञानसे ही हो सकती है।

ज्ञानप्राप्तिकी सात आधारभूत भूमिकाएँ हैं—

(१) शुभेच्छा, (२) विचारणा, (३) तनुमानसा, (४) सत्त्वापत्ति, (५) असंसक्ति, (६) पदार्थाभावना, (७) तुर्यगा।

(१) शुभेच्छा—योगवासिष्ठ रामायणके अनुसार—

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः॥

अर्थात् मैं मूढ़ होकर ही क्यों स्थित रहूँ, मैं शास्त्रों और सत्पुरुषोंद्वारा ज्ञान प्राप्तकर तत्त्वका साक्षात्कार करूँगा—इस प्रकार वैराग्यपूर्वक केवल मोक्षकी इच्छा होनेको ज्ञानीजन 'शुभेच्छा' कहते हैं। गोस्वामी तुलसीदासने सात्त्विक श्रद्धाको 'शुभेच्छा' कहा है—

सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई॥

जबतक साधक संसारके भोगों तथा अपने सम्बन्धियोंसे पूर्णरूपेण विरक्त नहीं हो जाता, तबतक इस संसार-प्रवाहके अज्ञान-अन्धकारसे विमुक्त होनेकी इच्छाका जन्म ही नहीं होता। जन्म-मृत्युके प्रवाहसे मुक्त होनेकी प्रबलतम चाह ही ज्ञानकी प्रथम भूमिका 'शुभेच्छा' है। 'शुभेच्छा' प्राप्त साधक समस्त अशुभ इच्छाओं और शास्त्र-निषिद्ध कर्मोंका मन, वाणी और शरीरसे त्याग कर देता है तथा यज्ञ, दान एवं तपरूप कर्मों या कि सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको आसक्ति एवं कर्म-फलका त्याग करके करता है। वह वेदोंके महावाक्यों—(क) **प्रज्ञानं ब्रह्म** (ऐतरेय उपनिषद् १।३) अर्थात् ब्रह्म विज्ञानघन है। (ख) **अहं ब्रह्मास्मि** (बृहदा०उप० १।४।१०) अर्थात् मैं देह नहीं, ब्रह्म हूँ। (ग) **तत्त्वमसि** (छांदोग्य उप० ६।१२।३) अर्थात् वह सच्चिदानन्द ब्रह्म तू ही है और (घ) **अयम् आत्मा ब्रह्म** (माण्डूक्य उप० मन्त्र २) अर्थात् यह आत्मा ही परब्रह्म परमात्मा है—इनका अध्ययन करता है और सत्पुरुषोंका संग करके उनसे इन महावाक्योंकी व्याख्याका श्रवण करता है तथा परमात्माको प्राप्त करनेकी इच्छा करता है।

(२) विचारणा—योगवासिष्ठके अनुसार—

शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥

अर्थात् शास्त्रोंके अध्ययन, मनन और सत्पुरुषोंका संग तथा विवेक-वैराग्यके अभ्याससे सदाचारमें प्रवृत्त होना—ज्ञानकी विचारणा नामक द्वितीय भूमिका है यानी दैवीसम्पदारूप (गीता १६।१) सद्गुण-सदाचारके सेवनसे उत्पन्न हुआ विवेक (विवेचन) ही विचारणा है। सत्-असत् और नित्य-अनित्यका विवेचन ही विवेक है

अर्थात् विवेक इनको भलीभाँति पृथक् कर देता है। सब अवस्थाओंमें और प्रत्येक वस्तुमें प्रतिक्षण आत्मा और अनात्माका विश्लेषण करते-करते यह विवेक सिद्ध होता है। जिसका कभी नाश न हो, वह सत् है और जिसका नाश होता है, वह असत् है। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है (गीता २।१६)—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

अर्थात् असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंने अनुभव किया है। अतः जड़ पदार्थ उत्पत्ति-विनाशशील होनेके कारण असत् हैं और वैसा न होनेके कारण परमात्मा ही सत् है। अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार जीवात्मा और परमात्मा वस्तुतः एक ही हैं, मायाकी उपाधिके सम्बन्धसे उनका भेद प्रतीत होता है। जैसे महाकाशके होते हुए भी घड़ेकी उपाधिके सम्बन्धसे घटाकाश और महाकाश तो अलग-अलग प्रतीत होते हैं, वस्तुतः घटाकाश और महाकाश तो एक ही हैं, उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा वास्तवमें एक ही हैं—इस तत्त्वको समझ लेना ही यथार्थ ज्ञान है। विवेकसे सत् (नित्य) और असत् (अनित्य)-का भेद समझमें आनेसे साधकको लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंमें कामना और आसक्ति नहीं रहती।

(३) तनुमानसा—योगवासिष्ठके अनुसार—

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता ।
यात्रा सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा॥

अर्थात् उपर्युक्त शुभेच्छा और विचारणाके द्वारा इन्द्रियोंकी विषयभोगोंमें आसक्तिका अभाव होना और अनासक्त हो संसारमें विचारणा करना—**तनुमानसा** नामक ज्ञानकी तृतीय भूमिका है। **तनु**का अर्थ है सूक्ष्म। इस भूमिकामें मन शुद्ध होकर सूक्ष्मताको प्राप्त हो जाता है, अतः इसे **तनुमानसा** कहते हैं। इस स्थितिमें कामना, आसक्ति और ममताके अभावमें, सत्पुरुषोंके संगके अभ्याससे और विवेक-वैराग्यपूर्वक निदिध्यासन (ध्यान करते-करते परमात्मामें तन्मय हो जाने)-से साधककी बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है तथा उसका मन शुद्ध, निर्मल, सूक्ष्म और ब्रह्ममें एकाग्र हो जाता है, जिससे उसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मत्त्वको ग्रहण करनेकी योग्यता अनायास ही प्राप्त हो जाती है। साधकके अन्तःकरणमें सम्पूर्ण अवगुणोंका अभाव होकर स्वाभाविक ही यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह), अनसूया (दोषदृष्टिरहित), अमानिता, निष्कपटता, पवित्रता, सन्तोष, शम, दम, समाधान, तेज, क्षमा, धैर्य, अद्रोह, निर्भयता, निरहंकारता, शान्ति और समता आदि सद्गुणोंका आविर्भाव हो जाता है। **तनु**का अर्थ—क्षीण तथा निर्बल भी होता है, अतः जिस समय विचारोंके द्वारा अन्तःकरणकी वासनात्मक वृत्ति क्षीण होकर निर्बल हो जाती है, साधककी वैसी अवस्था तनुमानसा है। वासनाक्षय होनेपर रजोगुण और तमोगुण भी धीरे-धीरे क्षीण हो जाते हैं तथा सत्त्वगुणकी अभिवृद्धि हो जाती है। इस अवस्थामें पहुँचा हुआ साधक शरीर, इन्द्रिय और मनसे भी ऊपर उठ जाता है।

(४) **सत्त्वापत्ति**—योगवासिष्ठके अनुसार—

भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात्।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता॥

अर्थात् पूर्वोक्त तीन भूमिकाओंके अभ्याससे साधकका चित्त सांसारिक विषयोंसे अत्यन्त विरक्त हो जाता है। चूँकि तनुमानसा भूमिकाको प्राप्त साधकके मनका साम्राज्य ढह जाता है और वह सत्त्व अर्थात् बुद्धिमें स्थित हो जाता है, अतः यह ज्ञानकी चतुर्थ भूमिका सत्त्वापत्ति है। बुद्धिस्थ हुआ साधक ही कार्य-जगत्के यथार्थ स्वरूपको जान पाता है और फिर उसके कारणको जानने और समझनेमें सक्षम हो जाता है। भगवद्गीता (७।४-५)-के अनुसार इस जगत्-प्रवाहकी कारणभूता परमात्माकी अष्टधा अपरा प्रकृति (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार)-में बुद्धिका श्रेष्ठतम स्थान है और यही अव्यक्तकी प्रथम अभिव्यक्ति है। बुद्धिमें स्फुरित

होनेवाला अहं चैतन्य परमात्माका ही अंश है अर्थात् परब्रह्म परमेश्वरकी अभिव्यक्ति है। सीमित बुद्धिमें आविर्भूत होनेसे उसे जीव कहते हैं और अनन्तकी अभिव्यक्ति होनेसे उसे आत्मा कहते हैं।

(५) असंसक्ति—योगवासिष्ठके अनुसार—

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गफलेन च।
रूढसत्त्वचमत्कारात् प्रोक्ता संसक्तिनामिका॥

अर्थात् पूर्वोक्त चारों भूमिकाओंके अभ्याससे साधकका चित्त बाह्याभ्यन्तर सभी विषय-संस्कारोंसे रहित होकर बुद्धि और उसके कार्योंसे पूर्णतया असंग हो जाता है—यह ज्ञानकी असंसक्ति नामक पंचम भूमिका है। इस अवस्था में परम वैराग्य और परम उपरतिके कारण साधकका इस संसार और शरीरसे पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, अतः ज्ञानकी इस पंचम भूमिकाको असंसक्ति या असंसर्ग अवस्था कहते हैं। भगवद्गीता (३।१८)-के अनुसार 'इस अवस्थाको प्राप्त साधकका इस विश्वमें न तो कोई कर्म करनेका प्रयोजन रहता है और न ही न करनेका कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी उसका किंचित् मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।' फिर भी इस ज्ञानी महात्माके सम्पूर्ण कर्म शास्त्रसम्मत और कामना तथा संकल्पशून्य होते हैं। भगवद्गीता (४।९)-के अनुसार 'जिस महापुरुषके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उसको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं।' अतः ज्ञानकी इस असंसक्ति नामक पंचम भूमिकाको प्राप्त साधक पण्डित है। जडभरत इस पंचम भूमिकामें स्थित थे।

(६) पदार्थाभावना—योगवासिष्ठके अनुसार—

भूमिकापंचकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम्।
आभ्यंतराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात्॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात्।
पदार्थाभावना नाम्नी षष्ठी संजायते गतिः॥

अर्थात् पूर्वोक्त पाँचों भूमिकाओंके सिद्ध हो जानेपर ज्ञानी महात्माके अन्तःकरणमें संसारके पदार्थोंका अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है यानी उसे बाहर-भीतरके किसी भी पदार्थका स्वयंको भान नहीं होता—यह पदार्थाभावना नामकी षष्ठ भूमिका है। इस भूमिकाको प्राप्त ज्ञानी महात्माको अविद्याके स्वरूपका यथार्थ बोध हो जाता है तथा उसकी मन-बुद्धि ब्रह्ममें तद्रूप हो जाते हैं (गीता ५।१७)। यह गुणातीत अवस्था है अर्थात् वह सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—इन तीनों गुणोंसे अतीत (रहित) हो जाता है। भगवद्गीता (१४।२२—२७)-में गुणातीत महात्माके लक्षणोंका वर्णन किया गया है। श्रीऋषभदेवजी इस षष्ठ भूमिका पदार्थाभावनामें स्थित थे।

(७) तुर्यगा—योगवासिष्ठके अनुसार—

भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भतः।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः॥

अर्थात् पूर्वोक्त छहों भूमिकाओंके सिद्ध हो जानेपर स्वाभाविक चिरकालतक अभ्यास होनेसे जिस अवस्थामें ज्ञानी महात्माके हृदयमें भेदरूप संसारकी सत्ता-स्फूर्तिका अभाव हो जाता है तथा उसकी अपने आत्मभावमें स्वाभाविक निष्ठा हो जाती है, इस अवस्थाको ज्ञानकी सातवीं भूमिका तुर्यगा या तुरीया कहते हैं। इस अवस्थाको प्राप्त ज्ञानी महात्मा अनन्त चैतन्यघनसे स्वयंकी एकताका अनुभव करता है तथा वह ज्ञानी महात्मा यह उद्घोष करता है—***योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि*** (ईश०उ०मन्त्र १६) अर्थात् 'जो वह पुरुष है, वही मैं हूँ' यह तुर्य अवस्था जीवन्मुक्त महात्माकी होती है। देहका अन्त होनेपर वह साक्षात् तुर्यातीत ब्रह्म ही हो जाता है। श्रीहनुमान्‌जी, मूक चाण्डाल, धर्मव्याध, गुह और शबरी इस सप्तम भूमिकामें स्थित थे।

उपर्युक्त वर्णित ज्ञानकी सात भूमिकाओंमें प्रथम चार भूमिकाओं (१) शुभेच्छा, (२) विचारणा, (३) तनुमानसा, (४) सत्त्वापत्तिको प्राप्त करनेहेतु सबसे सरल उपाय है— इस शरीर और वस्तुओंके द्वारा दूसरोंका हित किया जाय तथा सदैव दूसरोंके हितका चिन्तन किया जाय, जिससे मन-बुद्धिकी शुद्धि होती है। इस सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्ण (गीता १२।४)-में कहते हैं—

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।'

अर्थात् जो साधक सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं, वे मुझे प्राप्त होते हैं, ऐसे ही (गीता ५। २५)-में भी यह कहते हैं—

छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।

अर्थात् जिनके समस्त दोष नष्ट हो गये हैं, मन-बुद्धि और इन्द्रियाँ वशमें हैं, सब संशय मिट गये हैं तथा जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं, वे योगी निर्वाणके अधिष्ठान ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। श्रीरामचरितमानस (अरण्यकाण्ड ३१। ९)-में भी कहा गया है—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

हमारा निज स्वरूप अविनाशी चेतन है और शरीर विनाशी जड़ है। जड़ और चेतनका संयोग कभी हो ही नहीं सकता, परंतु भ्रमवश हम शरीरसे अपने को अभिन्न मान बैठे हैं।

भगवद्गीता (१५। ७)-में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

अर्थात् इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा (स्वयं) मेरा ही सनातन अंश है, परंतु वह प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षित करता है यानी अपना मान लेता है। इस अज्ञान-अवस्थामें जड़ और चेतनका माना हुआ संयोग चिज्जड़ ग्रन्थि कहलाती है। पंचम (असंसक्ति) तथा षष्ठ (पदार्थाभावना) भूमिकाको प्राप्त ज्ञानी महात्माकी इस चिज्जड़ ग्रन्थिका विच्छेद हो जाता है।

अर्थात् चेतनने जड़ चित्तके साथ जो आत्मभाव बना लिया, वह समाप्त हो जाता है यानी अज्ञानके आवरणका नाश हो जाता है। इस अवस्थाको तुर्यगा भूमिका कहते हैं। इस भूमिकाको प्राप्त ज्ञानी महात्मा परब्रह्ममें लीन हो जाते हैं।

विनय

(श्रीकैलाश पंकजजी श्रीवास्तव)

(१)

मुरलीधर! टेर सुनो मेरी।
लघु, छिद्रपूर्ण, जड़ काष्ठ-खंड को,
तुमने जीवन-दान दिया।
उस नीरव, नीरस, अर्थहीन को,
सार्थक कर मधु-गान दिया।
मेरे जीवन-छिद्रों को फिर
ढँकने में करते क्यों देरी?
मुरलीधर! टेर सुनो मेरी।

(२)

रासेश्वर! रास रचाओ तुम।
मन को मेरे कर वृन्दावन,
शुभ, मंगलमय कर दो जीवन।
छल, दम्भ, द्वेष की ज्वालाएँ,
हैं बनी हृदय की मालाएँ।
क्षण भर तो मुझ पापी को अब,
निज पीताम्बर ओढ़ाओ तुम।
रासेश्वर! रास रचाओ तुम।

(३)

गिरिधर! मुझको निज ओट करो।
दुर्धर्ष वासना-वृष्टि प्रबल,
थर-थर कंपित मैं क्षीण, निबल।
भई पुण्य-प्रकाश-विगत संझा,
तांडव-नर्तन-रत अघ-झंझा।
कर मुझ अनाथ को तुम सनाथ,
सिर मेरे निज कर-अभय धरो।
गिरिधर! मुझको निज ओट करो।

(४)

लो पार्थसारथी! सुन पुकार।
जीवन-रथ चलना हुआ कठिन,
यह जीर्ण-शीर्ण हो चुका मलिन।
पथ विस्मृत है, मन है अशांत,
हैं अश्व क्लान्त, है दृष्टि भ्रान्त।
अब तो रथ-वल्गा ले निज कर,
रथ मेरा भी पहुँचाओ पार।
लो पार्थसारथी! सुन पुकार।

संत-चरित—

समर्थ स्वामी रामदास

(श्रीविजयकुमारजी)

हिन्दू पद-पादशाहीके संस्थापक छत्रपति शिवाजी महाराजके गुरु समर्थ स्वामी रामदासका नाम भारतके श्रेष्ठ साधु-संत एवं विद्वत्-समाजमें सुविख्यात है। महाराष्ट्र तथा दक्षिण भारतमें प्रत्यक्ष हनुमान्‌जीके अवतारके रूपमें उनकी पूजा घर-घरमें होती है। उनके जन्मस्थान जाम्बगाँवमें तो मंदिर बनाकर उनकी मूर्तिकी स्थापना भी की गयी है।

जन्म—श्रीसमर्थके पिता सूर्याजी पंत तथा माता राणूबाई, दोनों ही बड़े धार्मिक विचारोंके थे। सूर्याजी अपने नामके अनुरूप सूर्यभगवान्‌को ही अपना इष्टदेव मानते थे। ३६ वर्षतक उन्होंने सूर्यकी कठिन उपासना एवं अनुष्ठान किये। इसीके फलस्वरूप उन्हें गंगाधर तथा नारायणके रूपमें दो पुत्रोंकी प्राप्ति हुई। छोटे पुत्र नारायणका जन्म ठीक भगवान् श्रीरामके जन्मके समय- चैत्र शुक्ल ९ वि० संवत् १६६५ (अप्रैल १६०८), दोपहरमें हुआ। यही नारायण आगे चलकर समर्थ स्वामी रामदासके नामसे प्रसिद्ध हुए। कहते हैं कि जन्मके कुछ समय बाद नारायणको लेकर उनके माता-पिता पैठण गाँवस्थित एकनाथजी महाराजके भक्ति-पीठपर गये। शिशुको आशीर्वाद देते हुए वहाँ विराजित महाराजने बताया कि यह बालक रामदूत श्रीहनुमान्‌जीके अंशसे उत्पन्न हुआ है, आगे चलकर यह बहुत बड़ा महापुरुष बनेगा और अपने देशका उद्धार करेगा।

बाल्यकाल—श्रीसमर्थ बालपनसे ही बहुत चंचल, शरारती एवं तीव्र बुद्धिके बालक थे। अपने बाल-मित्रोंके साथ उपद्रव करते हुए घरकी छतों-दीवारोंपर चढ़ने-उतरने, पेड़ोंपरसे कूदने-फाँदने, नदीमें तैरने आदिमें ही उनका पूरा समय बीतता था। पाँच वर्षकी आयुमें इनका यज्ञोपवीत-संस्कार हो गया तथा दोनों भाइयोंको पढ़ानेके लिये एक अध्यापककी नियुक्ति कर दी गयी; परंतु दुर्भाग्यवश तभी इनके पिता सूर्याजी पंतका देहावसान हो गया तथा दोनों भाइयोंका सम्पूर्ण दायित्व माता राणूबाईपर आ पड़ा। माताकी अविचल प्रभुभक्ति एवं धार्मिक वृत्तिने दोनों भाइयोंके भावी जीवनकी दिशा निर्धारित करनेमें बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

श्रीसमर्थकी बाल्यावस्थाके बारेमें अनेक दन्त-कथाएँ प्रचलित हैं। कहते हैं कि सात वर्षकी आयुमें एक बार उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि हनुमान्‌जी मेरे गुरु बनकर मुझे सब काम सिखायें। यह विचार आते ही वे गाँवके हनुमान् मन्दिरमें जा पहुँचे और वहीं बैठकर हनुमान्‌जीका ध्यान करने लगे। उन्होंने निश्चय कर लिया कि जबतक हनुमान्‌जी दर्शन नहीं देंगे, तबतक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा। उनका यह दृढ़-संकल्प देखकर हनुमान्‌जी प्रकट हुए तथा अपने साथ-साथ श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन भी उन्हें कराये। रामचन्द्रजीने उनका नाम नारायणसे बदलकर रामदास कर दिया तथा उन्हें ये उपदेश दिया कि तुम धर्म तथा समाजकी रक्षाकर यवनोंद्वारा पद-दलित किये जा रहे देशमें स्वराज्यकी स्थापना करो। इस घटनाके बाद तो रामदासने अपने जीवनका लक्ष्य धर्म-राज्यकी स्थापना ही बना लिया तथा वे प्राणपणसे इस कार्यमें जुट गये।

गृह-त्याग—बारह वर्षकी आयु होनेपर रामदासके विवाहकी चर्चा घरमें होने लगी, यह सुनकर वे घरसे भाग गये तथा कई दिन बाद लौटे। माताने उन्हें समझा-बुझाकर फिर किसी तरह तैयार कर लिया। विवाहकी वेदीपर कुछ औपचारिकताएँ पूर्ण होनेके बाद जब मुख्य संस्कारोंका समय आया, तो पंडितोंने उच्च-स्वरमें—***'शुभ मंगल सावधान'*** कहा। रामदासके पूछनेपर उन्होंने कहा कि अब तुम्हारे पाँवोंमें

गृहस्थीकी बेड़ियाँ पड़ने जा रही हैं, अत: सावधान हो जाओ। यह सुनते ही रामदास सावधान होकर विवाह-मण्डपसे भाग खड़े हुए, अनेक लोगोंने उनका पीछा भी किया, पर वे हाथ नहीं आये।

तप-साधना— घरसे भागकर वे गोदावरी नदीके तटपर स्थित पंचवटीके निकट टाकली गाँवकी एक गुफामें रहकर तप करने लगे। वे प्रात:से दोपहरतक गोदावरीके जलमें खड़े होकर जप करते तथा फिर अपनी गुफामें आकर ध्यान-पूजनमें लग जाते। भिक्षामें जो खाद्य-सामग्री प्राप्त होती, उसे भी श्रीरामचन्द्रजीको भोग लगाकर ही वे ग्रहण करते थे। बारह वर्षतक इस प्रकार कठोर तप करनेके कारण उनका कमरसे नीचेका भाग जल-प्रभावसे सफेद हो गया, परंतु अपने मन, बुद्धि, शरीर तथा वाणीपर उनको अद्भुत नियन्त्रण प्राप्त हो गया।

कहते हैं कि टाकलीके पासके एक गाँवमें एक धर्मप्रेमी सेठका देहान्त हो गया, उसकी शवयात्राके पीछे-पीछे उसकी पत्नी भी श्रृंगार करके सती होनेकी इच्छासे जा रही थी। मार्गमें रामदास स्वामीको देखकर उसने उन्हें प्रणाम किया, स्वामीजीने उसे 'अष्टपुत्रा सौभाग्यवती' होनेका आशीर्वाद दिया, परंतु वस्तुस्थितिकी जानकारी होनेपर उन्होंने अपने आराध्य श्रीरामचन्द्रजीका स्मरणकर गोदावरीका जल शवपर छिड़क दिया। जलके स्पर्शमात्रसे ही वह सेठ पुनर्जीवित हो गया, सब लोग धन्य-धन्य कह उठे। आगे चलकर उस दम्पतीको दस पुत्र प्राप्त हुए, अपना सबसे पहला पुत्र उन्होंने रामदास स्वामीके चरणोंमें समर्पित कर दिया, जो आगे चलकर उद्धव गोस्वामीके नामसे उनके प्रमुख शिष्यके रूपमें प्रसिद्ध हुए।

तीर्थ-दर्शन— अब रामदास स्वामी तीर्थयात्रापर निकल पड़े, भारतके चारों दिशाओंमें स्थित सभी प्रमुख तीर्थोंके उन्होंने दर्शन किये। हिमालयस्थित बदरीनाथ, केदारनाथ, कैलास-मानसरोवर, श्रीनगर (कश्मीर)-से लेकर दक्षिणमें रामेश्वरम् तथा श्रीलंकातककी यात्रा उन्होंने की। पूर्वमें जगन्नाथपुरी तथा पश्चिममें द्वारकापुरी भी वे गये। भगवान् रामके श्रीचरणोंके स्पर्शसे पावन हुए दक्षिणके अनेक स्थानोंपर जाकर उन्होंने पूजा-अर्चना की। बारह वर्षतक इस प्रकार तीर्थ-भ्रमण करते हुए वे लौटकर फिर पंचवटी आ गये। उस यात्रासे उन्हें भारतकी दशा प्रत्यक्ष देखने एवं देशभरके संतों, विद्वानों तथा मनीषियोंसे विचार-विमर्श करनेका सुअवसर मिला। देशके विभिन्न भागोंमें प्रचलित रीति-रिवाज तथा लोक-व्यवहारको उन्होंने निकटसे देखा। समाज-जीवनमें व्याप्त कुरीतियाँ, उनके कारण हो रही हानि तथा देशके ऊपर मँडरा रहे मुसलमानोंके आक्रमणरूपी खतरोंका भी उन्होंने अनुभव किया। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि देश, धर्म और समाजकी सुरक्षा तथा उन्नतिके लिये भक्तिके निवृत्तिमार्गके स्थानपर प्रवृत्तिमार्गका अवलम्बन इस समय उपयोगी होगा। आगे चलकर अपने उपदेशोंके माध्यमसे उन्होंने लोगोंको समाज-कार्यसे विरक्त होनेके बजाय सामाजिक एवं धार्मिक कार्योंमें अधिकाधिक समय लगानेके लिये प्रेरित किया।

प्रवासके दौरान एक बार उन्हें अपनी माताके अस्वस्थ होनेका समाचार मिला, वे शीघ्र ही घर पहुँचे तथा माँके चरणोंपर सिर रख दिया। माँ उनकी यादमें रो-रोकर प्राय: अन्धी-जैसी हो गयी थी। कहते हैं कि रामदास स्वामीने उनकी आँखोंपर हाथ फिराया, तो उन्हें फिरसे नेत्र-ज्योति प्राप्त हो गयी। माता, बड़े भाई तथा गाँववालोंके अनुरोधपर वे कई दिनोंतक अपने गाँवमें ही रुके तथा सबको अपने उपदेशामृतसे तृप्त किया। इसके बाद वे सबको समझा-बुझाकर फिर प्रवासपर निकल पड़े।

कुशल-संगठक— रामदास स्वामीको संगठनकी महत्ताका भी भली-भाँति ज्ञान था, इसलिये अपने बारह वर्षके प्रवासमें उन्होंने भारतभरमें सात सौ मठ और मन्दिर बनवाकर एक सशक्त संगठन-तन्त्र खड़ा किया। प्रत्येक मठ-मन्दिरका काम वे वहाँके ही किसी योग्य व्यक्तिको सौंपकर आगे चल देते थे। इन मन्दिरोंमें भगवान् श्रीराम तथा हनुमान्‌जीकी मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं तथा प्रतिदिन वहाँ नवयुवक एकत्र होकर अखाड़ा, कुश्ती, मलखम्ब आदि व्यायाम करते थे। जब शिवाजी महाराज आगरासे औरंगजेबकी कैदसे निकल भागे थे, तब इन्हीं मठ-मन्दिरोंके सहयोगसे वे सुरक्षित अपने गृह-क्षेत्रतक पहुँच सके थे।

सतत एवं सघन प्रवास तथा मठ-मन्दिरोंके रूपमें प्रबल संगठन-तन्त्रकी स्थापनाके कारण उनके शिष्यों एवं अनुयायियोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी। पूरे भारतवर्ष और विशेषत: महाराष्ट्रमें तो उनकी ख्याति गाँव-गाँव और घर-

घरमें फैल गयी। उन्होंने चाफलको अपना केन्द्र बना लिया तथा वहाँसे सारी गतिविधियोंका संचालन करने लगे। सभी मठोंके व्यवस्थापक बारी-बारीसे वहाँ आकर अपने क्षेत्रके कामकी जानकारी देते थे तथा उनसे आगेके लिये निर्देश प्राप्त करते थे। सम्पूर्ण देशसे बड़े-बड़े साधु-संत भी उनसे विचार-विमर्श करने वहाँ आते रहते थे। उनकी यह अद्भुत सामर्थ्य देखकर लोगोंने उन्हें 'समर्थ स्वामी' कहना शुरू कर दिया। धीरे-धीरे उनका नाम समर्थ स्वामी रामदास तथा उद्घोष 'जय-जय श्रीरघुवीर समर्थ' प्रसिद्ध हो गया।

शिवाजीके गुरु—माता जीजाबाईके आशीर्वादसे धर्मराज्य एवं हिन्दू पद-पादशाहीकी स्थापनाका संकल्प लेकर जब शिवाजीने कार्य आरम्भ किया, तो उन्हें ऐसे श्रेष्ठ गुरुकी आवश्यकता अनुभव हुई, जो समय-समयपर उन्हें योग्य मार्गदर्शन दे सके। एक श्रेष्ठ संतके नाते महात्मा तुकारामकी उन दिनों बड़ी ख्याति थी, शिवाजीने उनसे प्रार्थना की कि वे उन्हें अपना शिष्य बना लें, परंतु तुकारामने शिवाजीको समर्थ रामदासके पास जाकर उन्हें अपना गुरु बनानेका परामर्श दिया। शिवाजीने समर्थ स्वामीकी कीर्ति तो सुनी ही थी, अतः वे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उनके पास पहुँच गये। समर्थ स्वामीने योग्य उपदेश देकर उन्हें अपना शिष्य बना लिया।

शिवाजी तथा समर्थ स्वामी रामदासकी इस भेंटने तत्कालीन इतिहासको काफी प्रभावित किया, क्योंकि शिवाजी-जैसा योग्य शिष्य पाकर समर्थ स्वामीने तथा समर्थ स्वामी-जैसा श्रेष्ठ गुरु पाकर शिवाजीने अपने संकल्पोंको साकार रूप प्रदान किया। परवर्ती भारतीय इतिहासमें छत्रपति शिवाजीके हिन्दवी स्वराज्यको आदर्श राज्यके रूपमें याद किया जाता है।

कहते हैं कि एक बार समर्थ स्वामी शिवाजीके द्वारपर ही भिक्षा माँगने पहुँच गये। शिवाजीने एक कागजपर लिखा—'सम्पूर्ण राज्य आपको समर्पित है' और वह कागज उनकी झोलीमें डाल दिया। समर्थ स्वामी उनकी गुरुभक्ति देखकर प्रसन्न हुए और पूछा—'राज्य तो तुमने मुझे दे दिया, अब तुम क्या करोगे?' शिवाजीने कहा—'आपकी सेवा करूँगा' यह कहकर उनकी झोली अपने कन्धेपर लटका ली तथा उनके पीछे-पीछे चलकर नगरमें भिक्षा माँगी, इतना ही नहीं, गुरुजीके भोजन कर लेनेके बाद शेष बची सामग्रीको प्रसादरूपमें ग्रहण किया। बादमें समर्थ स्वामीने यह कहकर राज्य शिवाजीको लौटा दिया कि—'राज्य मेरा है, पर तुम मेरे प्रतिनिधिके रूपमें राज्यका सुचारु संचालन करो।' शिवाजीने उनके आदेशका पालन करते हुए उनकी चरणपादुकाओंको सिंहासनपर स्थापित किया तथा अपने राज्यके ध्वजका रंग केसरिया कर दिया, जिससे सबको यह स्पष्ट हो जाय कि राज्य छत्रपति शिवाजीका नहीं, अपितु समर्थ स्वामी रामदासका है।

ग्रन्थ-रचना—श्रीसमर्थ स्वामीकी जीवन-यात्रा एवं उनके अनुभवोंका निष्कर्ष मुख्यतः दासबोधमें संकलित है, लेकिन इसके अतिरिक्त भी उनकी अनेक रचनाएँ प्रचलित हैं। समर्थ स्वामीने कुछ पुस्तकें तो स्वयं लिखी हैं, जबकि अधिकांश उनके लेखक-शिष्योंद्वारा संकलित की गयी हैं, वे कवितारूपमें बोलते रहते थे तथा उनके शिष्य लिखते जाते थे। उनके द्वारा रचित ग्रन्थ इस प्रकार हैं—रामायण, मनके श्लोक, चौदह शतक, जनस्वभाव, गोसावी, पंच-समाधि, जुनाट पुरुष, मानसपूजा, जुना दासबोध, रामगीता, पंचीकरण योग, चतुर्थ योगमान, मानपंचक, पंचमान, कृतनिर्वाह, चतुःसमासी, अक्षरपद संग्रह, सप्तसमासी, रामकृष्ण-स्तवन आदि। इसके अतिरिक्त भी अनेक ग्रन्थ, आरतियाँ, श्लोक, भजन आदि उनके द्वारा रचित कहे जाते हैं।

चमत्कार—प्रत्येक साधु-सन्त एवं महात्माके चमत्कारोंके बारेमें उनके शिष्य एवं अनुयायियोंमें अनेक कथाएँ प्रचलित हो जाती हैं, उनमेंसे कुछ पूर्णतः सत्य होती हैं और कुछ आंशिक।

ऐसा कहते हैं कि सज्जनगढ़का किला बनवाते समय शिवाजीके मनमें कुछ अहंकार जाग्रत् हो गया कि मैं यह किला बनवा रहा हूँ, जिसके कारण हजारों परिवारोंका पालन-पोषण हो रहा है। श्रीसमर्थने यह बात ताड़ ली, उन्होंने एक बड़े पत्थरकी ओर संकेतकर मजदूरसे उसे तोड़नेको कहा। पत्थर टूटनेपर उसके अन्दर कुछ पानी तथा एक जीवित मेंढक निकला। शिवाजी अपनी भूल समझ गये कि जो भगवान् इस पत्थरके अन्दर मेंढकका

पालन कर रहा है, वही वास्तवमें हजारों परिवारोंका भरण-पोषण कर रहा है, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ।

पूर्णाहुति—समर्थ स्वामी रामदास तथा छत्रपति शिवाजी, दोनोंके कार्य एवं विचार एक-दूसरेके पूरक थे। १६८० ई०में शिवाजीके देहावसानके बाद समर्थ स्वामी भी दुखी रहने लगे। समर्थ स्वामीका शरीर भी अब थक चुका था, उनको लगा कि श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें जो कार्य करनेका आदेश दिया था, वे यथाशक्ति उसे कर चुके हैं, अत: अब इस शरीरके ढोनेसे कोई लाभ नहीं। १६८१ ई० की रामनवमीके बाद उन्होंने अन्न ग्रहण करना छोड़ दिया और शिष्योंको बता दिया कि नौ दिन बाद वे यह शरीर छोड़ देंगे।

शरीरान्तसे कुछ समय पूर्व उनके सब शिष्य रोने लगे, यह देखकर उन्होंने सबको समझाया तथा कहा कि मेरे चले जानेके बाद भी जो मुझसे बात करना और दिशा-निर्देश लेना चाहें, वे मेरा ग्रन्थ दासबोध पढ़ें। इतना कहकर उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें अपना मन लगाया और उनके भजन कहते तथा सुनते हुए माघ कृष्ण नवमी, शक संवत् १७३९ (२२ जनवरी १६८२ ई०)-को अपना शरीर त्याग दिया।

उपदेश—(१) मानव-तन पाकर अधिकाधिक समय परमार्थ-कार्यमें लगाना चाहिये, जिससे यह जीवन धन्य और सार्थक हो सके।

(२) जो अपने व्यवहारसे अपने प्रिय लोगोंको सदैव दुखी रखे तथा उनका सदैव अपमान करता रहे, दूसरोंके दु:खसे जो सुख और सुखसे जो दु:खका अनुभव करता है; वह मूर्ख है।

(३) किसीसे विश्वासघात न करे और कोई यदि उसपर अहसान करता है, तो उसका बदला समुचित विधिसे चुकाये। किसीको कष्ट न दे तथा अपना बोझ दूसरेपर न लादे।

(४) जो अपनी इन्द्रियोंको नियन्त्रणमें रखे तथा अपने लिये निर्धारित कामको साधना समझकर निष्ठापूर्वक उसे करता रहे। जो अपनी इच्छाओं और कामनाओंको दबाकर अध्ययन, अभ्यास एवं परमार्थ-कार्यमें अपना समय खर्च करे, वही सच्चा विरक्त है।

(५) जो ग्रन्थको पूरा पढ़े बिना उसके दोष बताने लगता है तथा उसमें कमियाँ ही ढूँढ़ता रहता है, वह पढ़-लिखकर भी मूर्ख है।

(६) समय बीतते पता नहीं चलता और व्यक्ति वृद्ध हो जाता है, उसका शरीर रोगोंका घर बन जाता है। शक्ति क्षीण हो जानेके कारण वह हर कामके लिये दूसरेका मुँह देखता है और इसी प्रकार दु:ख भोगते हुए एक दिन दुनियासे विदा हो जाता है। दु:खोंके इस जीवन-चक्रसे हर व्यक्तिको गुजरना पड़ता है। इससे बचनेका उपाय यही है कि जहाँतक हो सके, सब परमार्थके कार्य करें तथा भगवान्‌को सदैव स्मरण करते रहें।

(७) मृत्यु एक अटल-अनिवार्य सत्य है, वह शिक्षित-अशिक्षित, कमजोर-बलवान्, गरीब-अमीर, राजा-रंक, सवर्ण-अवर्ण, कृषक-व्यापारी, पुरुष-स्त्री, बच्चा-बूढ़ा, कायर-वीर, गृहस्थी-संन्यासी, पापी-पुण्यात्मा, भक्त-नास्तिक, क्रोधी-संयमी आदि कुछ नहीं देखती। यह निश्चित है कि जो यहाँ आया है, वह जायगा अवश्य। अत: सबको चाहिये कि परमार्थ कार्योंमें समय लगाकर अपना जीवन सार्थक करें, जिससे मृत्युके बाद भी उनकी कीर्ति बनी रहे।

(८) कीर्तन करते समय किसी प्रकारके वाद-विवादमें नहीं पड़ना चाहिये, कीर्तनसे व्यक्तिकी वाणी पवित्र होती है तथा उसमें सत्पात्रता उत्पन्न होती है। भगवान्‌को भी कीर्तन प्रिय है।

(९) नाम-स्मरणसे मानव-जीवनकी सभी विघ्न-बाधाएँ दूर होती हैं। महर्षि वाल्मीकि, भक्त प्रह्लाद तथा अजामिल-जैसे अनेक लोग नाम-स्मरणसे ही पवित्र हो गये। नाम-स्मरणका अधिकार हर किसीको है, भगवान्‌का जो रूप हमें अच्छा लगे, उसीका ध्यान एवं स्मरण करते रहनेसे सब संकट कट जाते हैं।

(१०) यदि प्राणी अपनी इच्छाओंको बढ़ानेके बदले क्रमश: कम करता चले और धीरे-धीरे इच्छाशून्य एवं वासनामुक्त हो जाय, तो वह पुनर्जन्मके झंझटसे बच सकता है। पर इस स्थितिको प्राप्त करना सरल नहीं है, सतत प्रयास एवं अभ्यासद्वारा क्रमश: इस दिशामें आगे बढ़ा जा सकता है। इसके लिये मन:स्थिति महत्त्वपूर्ण है, आडम्बर नहीं।

सुख-भोगकी चाह मिटानेमें ही सच्चा सुख है

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

मनुष्यके मनकी सब बातें भगवान् पूरी नहीं होने देते। इसमें भी उनकी कृपा भरी हुई है। यदि उसके मनकी सब बातें पूरी होने लगें, तो ऐसी भयानक स्थिति पैदा हो जाय, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसपर एक कहानी है—

एक गृहस्थीमें तीन व्यक्ति थे। एक पिता, दूसरी उसकी पत्नी, तीसरा उसका लड़का। वे तीनों बड़े दुखी रहते थे। उनके अभावकी पूर्ति नहीं होती थी। एक समयकी बात है, भगवान् शिव और देवी पार्वती उधरसे निकले तो पार्वतीजीने उन सबकी दीन-दशा देखकर करुणापूरित होकर कहा—'हे प्रभो! इनको ऐश्वर्य प्रदान करके सुखी बना दीजिये।' तब शिवजीने कहा—'देवि! ये लोग सुखी होना नहीं चाहते।' परंतु यह बात पार्वतीजीकी समझमें नहीं आयी।

तब उनके आग्रह करनेपर शिवजीने पहले स्त्रीसे कहा—'तुम जो चाहो अच्छे-से-अच्छा वर माँग लो।' उसने कहा—'मैं चौदह वर्षकी बड़ी सुन्दर रूपवती और नवीन अवस्थावाली हो जाऊँ।' शिवजीने कहा, 'ठीक है।' वह वैसी ही हो गयी। फिर उसके पतिसे कहा कि 'तुम भी वर माँग लो।' तब पतिने सोचा कि 'यह स्त्री तो मुझ बूढ़ेको छोड़कर दूसरा पति करना चाहती है, इसीलिये इसने युवावस्था माँगी है।' यह सोचकर उसे क्रोध आ गया और उसने वर माँगा कि 'यह शूकरी हो जाय।' शिवजीने 'तथास्तु' कहा, तब वह शूकरी हो गयी। उसके बाद लड़केको वर माँगनेके लिये कहा। लड़का माँको शूकरीके रूपमें देखकर बड़ा दुखी था, अतः उसने कहा—'प्रभो! हमलोग जैसे पहले थे, वैसे ही हो जायँ।' तब वे वैसे ही हो गये। शिवजीने पार्वतीसे कहा—'तमाशा देख लिया? ये लोग कहाँ सुखी होना चाहते हैं?' अतः यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यको अपने वास्तविक सुख-दुःखका ज्ञान नहीं है। वह अपने मनकी बात पूरी होनेको सुख और पूरी न होनेको दुःख मानता है। जब मनुष्य सचमुच दुखी हो जाता है, तब उस समय उसकी किसी प्रकारके सुख-भोगमें प्रवृत्ति नहीं होती और भोगवासनाका अन्त हो जाता है। जब संसारसे अरुचि हो जाती है, तब वह दुःख मनुष्यको प्रभुसे मिला देता है; क्योंकि सुखभोगकी रुचि और प्रवृत्तिसे ही मनुष्य उनसे विमुख होता है और भोगवासनाकी निवृत्तिसे भगवान्के सम्मुख और संसारसे विमुख होता है।

जिसको लोग जीवन कहते हैं, यह जीवन नहीं है। यह तो मृत्युका ही दूसरा नाम है। एक अवस्थाकी मृत्युको ही दूसरी अवस्थाका जन्म कहते हैं। जैसे बीजकी मृत्यु और पौधेकी उत्पत्ति, बाल्यावस्थाकी मृत्यु और कुमार एवं यौवनावस्थाकी क्रमसे उत्पत्ति। इनमें कोई भी अवस्था स्थायी नहीं है। हरेक क्षणमें परिवर्तन होता है। परिवर्तनका ही नाम मृत्यु है। अतः यह जीवन नहीं है। असली जीवन तो वह है, जिसमें मरनेका डर नहीं है, परंतु लोग इस परिवर्तनशील अवस्थाको ही जीवन मानने लगे हैं एवं शरीर-इन्द्रियोंके साथ विषयोंके सम्बन्धको ही उन्होंने सुख मान रखा है। वास्तवमें शरीर तो एक हाड़-मांस और मल-मूत्रकी थैली है। इसकी चाहने आत्माकी चाहको अर्थात् अमर जीवनकी चाहको ढक रखा है। भोगकी चाहने मनुष्यको ईश्वरसे विमुख कर रखा है।

साधकको चाहिये कि वह इन्द्रियों और विषयोंके सम्बन्धसे होनेवाले सुख-भोगकी चाहको मिटाकर भगवान्के सम्मुख हो जाय। विचार करनेपर मालूम होगा कि सब चीजोंके रहते हुए भी अभावका अनुभव होता है। इच्छाओंकी पूर्ति नहीं होती। संयोगका अन्त होकर वियोग आयेगा ही। सभी वस्तुएँ अनित्य हैं, उनका संयोग कैसे रह सकता है?

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः । संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥

संसारमें जितने संचय हैं, उन सबका अन्त विनाश है, उत्थानका अन्त पतन है, संयोगका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है। (वा० रा० ७।५२।११)

गो-चिन्तन—

गोसेवासे वाक्-सिद्धि

कुछ समय पूर्वकी बात है—पुण्यतोया नर्मदाजीके पावन तटपर शुक्लतीर्थमें जो आजकल सोकलपुर कहलाता है, एक निर्धन तपस्वी ब्राह्मण रहते थे। वे गौएँ चराकर अपना समय व्यतीत करते थे। ग्रामवासी उनके इस गो-सेवाके स्वभावसे बहुत प्रभावित थे। वे प्रेमसे गौएँ चराते और शामको ले आते। ग्रामवासी उन्हें कुछ देना चाहते, तो भी वे कुछ भी नहीं लेते। गौएँ जब बैठ जातीं, तब ब्राह्मणदेवता भी बैठ जाते और जब गौएँ खड़ी होतीं, तो वे भी खड़े हो जाते। वे सभी गौओंको पहचानते थे। उन्होंने उनके अलग-अलग नाम रख लिये थे। जब जिस गायको वे बुलाते, वह उनके पास आ जाती थी। वे गौओंसे बहुत प्रेम करते थे और गौएँ भी इस वीतराग ब्राह्मणसे बहुत प्रेम करती थीं।

एक दिन ब्राह्मणने एक नयी सुन्दर गायको अपनी गायोंमें चरते हुए देखा। उसे देखकर ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुए। वे दिनभर उसी गायको देखते रहे। शामको जब सभी गायें अपने-अपने घर जा रही थीं, उस समय अचानक वह गाय नर्मदाजीमें कूद पड़ी। ब्राह्मणको गायके नर्मदाजीमें डूब जानेका बड़ा दु:ख हुआ, चिन्तामग्न वे रात्रिभर जागते ही रहे, पर दूसरे दिन उन्होंने देखा कि वह गाय फिर आ गयी है। ब्राह्मणके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। उन्होंने गायका पीछा किया, वे गायके साथ-साथ जहाँ वह जाती, वहाँ जाने लगे। जब वह गाय नर्मदाजीमें कूदने लगी, तब ब्राह्मणने उस गायकी पूँछ पकड़ ली। गायके साथ वे एक ऐसे स्थानपर पहुँचे, जहाँ एक देवी सिंहासनपर बैठी हुई थीं और बहुत-सी सखियाँ उन देवीकी सेवा कर रही थीं। ब्राह्मण गौकी पूँछ छोड़कर उन देवीके चरणोंमें गिर पड़े, वे साक्षात् नर्मदादेवी थीं। नर्मदादेवीने ब्राह्मणको वरदान देते हुए उन्हें वाक्-सिद्धि प्रदान की। प्रसन्न होकर वे उसी गायकी पूँछ पकड़कर जलसे बाहर निकल आये।

गो-सेवा और नर्मदाजीके आशीर्वादके कारण वे ही ब्राह्मण 'गुरु महाराज'के नामसे प्रसिद्ध हुए। वरदान-प्राप्तिके बाद भी वे गो-सेवा करके अपना समय व्यतीत करते रहे। आस-पास उनकी वाक्-सिद्धिकी चर्चाएँ होने लगीं। हजारों आदमी उनके दर्शनोंको आते और अपनी अभिलाषाएँ पूरी करते। उनके निवास-स्थानके पास ही दिछावन ग्राममें मुरलीधर नामके एक पटवारी रहते थे। वे अपनी पत्नीका देहावसान हो जानेके कारण अपने बच्चोंको घरपर छोड़कर सत्संगके लिये गुरु महाराजके पास आते थे। पर बच्चोंकी चिन्ताके कारण वे जल्दी चले जाते थे।

एक दिन गुरु महाराजने उन्हें अपने बच्चोंको साथ लानेका आदेश दिया और तब वे सात वर्षकी बच्ची तथा पाँच वर्षके बच्चेको लेकर गुरु महाराजकी सेवामें उपस्थित हुए। पर उन्हें आश्चर्य हुआ कि गुरु महाराज सात वर्षीय बालिका देखकर आनन्द-विभोर हो गये। बच्चीका नाम गोपी था। बच्चेको शिवप्रसाद कहते थे। गुरु महाराजने मुरलीधरसे कहा कि—'तुम्हारी बच्ची एक जीवन्मुक्तकी माँ बनेगी। यह गो-सेवाके बलपर कृष्णके साक्षात् दर्शन प्राप्तकर गोलोकवास करेगी।' पटवारीजीको गुरु महाराजके शब्दोंपर पूर्ण भरोसा था। समय आनेपर उस बालिकाका विवाह भगवद्भक्त बारीबाईकी विधवा पुत्री गिरजाबाईके इकलौते पुत्रसे हो गया। साधु-वचनके अनुसार गोपीबाईकी दिनचर्यामें प्रात:काल उठकर गौको प्रणाम करना, उसे भोजन देना और उसकी परिक्रमा करना सम्मिलित था। नौकरोंके होते हुए भी वह गौका गोबर स्वयं उठाती। उसके पति हनुमान्जीके अनन्य भक्त थे। उन्होंने हनुमान्जीका मन्दिर बजरंगबलीकी आज्ञासे बनवाया था, जो अट्ठायसा ग्राममें स्थित है। अन्तिम समयमें उन्होंने अपने पुत्रको प्रत्यक्षरूपमें हनुमान्जीके कर-कमलोंमें सौंपकर यह लौकिक जीवन-यात्रा समाप्त की। गोपीबाई भी गुरु महाराजकी वाणीको सत्य करते हुए कृष्णका नाम लेते हुए गोलोक पधारीं।

गुरु महाराजकी गोसेवाके प्रभावसे अलौकिक सिद्धि प्राप्त करनेकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी, आज भी चैत्र सुदी दशमीको उनकी समाधिपर लाखों श्रद्धालु एकत्रित होते हैं। गुरु महाराजकी जय-जयकारसे आज भी उनकी समाधि गूँजती रहती है। यह स्थान मध्यप्रदेशमें नरसिंहपुर जिलेमें स्थित है।—**कु० अनुभूति श्रीवास्तव**

साधनोपयोगी पत्र

(१)

दुर्गा और सरस्वतीकी उपासना

सप्रेम हरिस्मरण! कृपापत्र मिला। धन्यवाद! उत्तरमें निवेदन है कि श्रीदुर्गाजीका 'दुर्गा' नाम ही ढाई अक्षरका है। इसका जप आप हर समय कर सकते हैं। प्रतिदिन स्नान-सन्ध्या आदिसे निवृत्त होकर एक आसनपर बैठकर मालाद्वारा जप करना चाहिये। जितना आप अधिक-से-अधिक प्रेमपूर्वक जप कर सकें, उतना ही अच्छा है—'**अधिकस्याधिकं फलम्।**' इसके जपकी कोई नियमित संख्या या विशेष विधि नहीं है।

'सरस्वती' का बीज-मन्त्र 'क्लीं' हैं। यह सबसे छोटा मन्त्र है। सरस्वतीजीका ध्यान करते हुए इस मन्त्रका जप करनेसे उनकी कृपा प्राप्त होती है। श्रीदेवीभागवतमें इसकी बड़ी महिमा बतायी गयी है। सुदर्शनने इसीके जपसे सरस्वतीका प्रत्यक्ष दर्शन और दुर्लभ वरदान प्राप्त किया था।

प्रत्येक कामनाकी पूर्ति करनेवाले हैं स्वयं श्रीभगवान्; अत: प्रेमपूर्वक उन्हींका नाम जपना चाहिये—

अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी:।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

(श्रीमद्भा० २।३।१०)

अर्थात् 'कोई कामना न हो, अथवा सब प्रकारकी कामनाएँ हों या मोक्षमात्रकी अभिलाषा हो, मनुष्य तीव्र भक्तियोगके द्वारा परम पुरुष भगवान्की आराधना करे।' अत: प्रत्येक कामनाकी पूर्तिका उपाय है—भगवान्की अटल भक्ति और भगवान्के नामोंका निरन्तर जप।

वशीकरणकी विधि मेरे पास नहीं है। वशीकरणका प्रयोग सीखना या करना भी नहीं चाहिये। कोई पुरुष किसी स्त्रीको वशमें करनेके लिये यदि इसका प्रयोग करता है तो वह पाप करता है। यदि किसी मनोरथकी सिद्धिके लिये किसी देवताको वशमें करना हो तो वह उस देवताकी अथवा साक्षात् भगवान्की आराधनासे ही साध्य है। इसके लिये वशीकरणका प्रयोग करना निरर्थक है। भगवान्पर वशीकरण नहीं चलता। वे तो प्रेमसे ही वशमें होते हैं। अथवा स्वयं कृपा करके ही भक्तकी इच्छा पूरी करते हैं। भगवान्को वशमें करनेके लिये 'ढाई' अक्षरका 'प्रेम' ही समर्थ है। शेष भगवत्कृपा।

(२)

नामसे पापका नाश होता है

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण! कृपापत्र मिला। धन्यवाद! आपके प्रश्नोंपर अपना विचार इस प्रकार है—

(१) भगवान्के नामके बलपर पाप नहीं हो सकता, पापका नाश होता है। क्या सूर्यके प्रकाशके बलपर अन्धकार फैलाया जा सकता है? क्या जहाँ अन्धकार है, वहाँ सूर्यका प्रकाश भी है? इसी प्रकार जहाँ पाप है, वहाँ नाम या नामका बल नहीं है। वहाँ तो नामका अनादर या अवहेलना है। नाम और भगवान् दोनोंके प्रति द्रोहकी सूचना है। दूसरे शब्दोंमें वह महान् नामापराध है। इसका दण्ड है—'अन्धतमसाच्छन्न घोर नरक।'

नाम वह अग्नि है, जो पापराशिके ईंधनको जलाकर भस्म कर देती है। उस आगसे पापका नया ईंधन नहीं निकल सकता। सूर्यका प्रकाश रात्रिके गहन अन्धकारको विलीन कर देता है। उस समय नूतन अन्धकारकी सृष्टि नहीं हो सकती। जो नामकी शरण लेता है, वह भगवान्के प्रति श्रद्धालु होता है। वह पापके बन्धनसे छूटनेके लिये भगवान्की शरणमें जाता है। उसको पापसे छूटनेकी चिन्ता रहती है। उसके मनमें पाप करनेका द्विगुण उत्साह नहीं हो सकता। वह पुराने अभ्यासवश विवश होकर पाप कर सकता है; फिर सावधान होता है, फिर फिसलता है। इस प्रकारकी दशा उसकी हो सकती है; किंतु वह पापसे दूर रहनेके लिये ही प्रयास करता है। पाप हो जानेपर उसके मनमें बड़ी ग्लानि होती है। वह अपार वेदनाका अनुभव करता है। प्रभुसे रो-रोकर प्रार्थना करता है कि मुझे पापोंसे बचाइये। ऐसे साधकको भगवान् बचा लेते हैं। वह पहलेका पतित है, भगवान्की शरणमें आकर उनके नामकी गंगामें नहाकर पवित्र हो गया है। अतएव भगवान् पतितपावन हैं। यदि भगवान्की शरणमें आकर

भी कोई पापाचारी, पतित बना रह जाय, तभी उनकी पतित-पावनतामें सन्देह किया जा सकता है। मनुष्य पहले कितना ही दुराचारी क्यों न रहा हो, यदि नाम और भगवान्‌की शरण ग्रहण कर लेता है तो भगवान्‌के शब्दोंमें उसे 'साधु' ही मानना चाहिये; क्योंकि अब उसने ठीक रास्ता पकड़ लिया है, उत्तम निश्चयको अपना लिया है—

'साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।'
अब वह पापी नहीं रहेगा। पापमें उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी। उसको तो अब शीघ्र ही महात्मा बनना है— **'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा।'**

पर जो भगवान्‌का नाम लेकर पाप करता है, वह तो असुरों और दैत्योंकी भाँति भगवान्‌के साथ खुला विद्रोह करता है। असुरों और दैत्योंने भगवान् विष्णुको अपना शत्रु समझा था, अतः वे उनके स्वरूपभूत धर्मपर कुठाराघात करनेके लिये जान-बूझकर पापको बढ़ावा देते थे। पापाचार ही उनकी युद्ध-घोषणा या चुनौती थी। आज भी जो लोग नाम लेकर जान-बूझकर पाप करते हैं, वे नामापराधी असुर और दैत्योंकी कोटिमें हैं। समाजमें पाप और भ्रष्टाचार फैलाना उन्हींका काम है। भगवन्नामका आश्रय लेनेवाले भक्त तो स्वभावसे ही धर्मपालक और धर्मप्रचारक होते हैं।

(२) 'भगवन्नाममें पाप-नाश करनेकी जितनी शक्ति है, उतनी पापी मनुष्यमें पाप करनेकी नहीं है।' यह कथन सर्वथा सत्य है। नामके साथ भगवान्‌की शक्ति है—जो अपरिमेय, असीम है। मनुष्य क्षुद्रतम जीव है, फिर पापी जीव तो और भी निकृष्ट है; उसमें शक्ति ही क्या है? इससे यह समझना चाहिये कि नामकी शक्ति बहुत बड़ी है, उससे हमारा उद्धार हो जायगा। यदि आजतक हमसे कोई शुभ कर्म नहीं बन सका, सदा पाप-ही-पाप हुआ है, तो भी हताश होने, घबरानेकी बात नहीं है। शीघ्र-से-शीघ्र हमें नामकी शरण लेनी चाहिये। नाम पापका विरोधी है, अतः उसकी शरण लेनेका अर्थ है पापसे मुँह मोड़ लेना। नाव और नाविकको अपना शरीर सौंप दिया जाय, तभी हम सागर या सरिताके पार हो सकते हैं। एक पैर जमीनपर और एक नावमें रखें तो गिरकर डूबना ही है। इसी प्रकार नामको पूर्णतया आत्मसमर्पण करनेवाला ही नामका बल रखता है। नाम और पाप दोनोंको चाहनेवाला डूबता है। वास्तवमें पापको चाहनेवाला नामकी मखौल उड़ाता है, वह नामका बल मानता ही नहीं। जो पूर्णतया नामनिष्ठ हो जाता है, उसके समस्त पाप भस्म हो जाते हैं—चाहे वे जान-बूझकर किये गये हों या अनजानेमें।

(३) नाम लेनेमें किसी विधिकी अपेक्षा नहीं; हँसी, भय, क्रोध, द्वेष, काम या स्नेहसे भी नाम लेनेपर उस नामसे उसके पूर्व पाप अवश्य नष्ट हो जाते हैं। परंतु जब वह अपना यह पेशा बना लेता है कि 'मैं पाप करूँगा और नाम लेकर उन्हें नष्ट कर दूँगा, तब वह नामापराधी हो जाता है। उस दशामें नामापराध नामक नूतन और बड़ा भयंकर पाप वह कर बैठता है। यही उसको डुबो देता है। इससे बचना चाहिये।' कारणका संयोग मिल जानेपर कार्य हो ही जाता है। यदि हँसी-मजाक, क्रोध, द्वेषसे भी किसीके शरीरसे आगकी चिनगारी छुआ दी जाय तो उसमें जलन होगी ही। बालकको विषके गुणका ज्ञान नहीं है, उसके प्रभावपर उसकी श्रद्धा या विश्वास नहीं है तो भी उसे खानेपर उसकी मृत्यु हो ही जायगी। इसी प्रकार नामोच्चारणमात्रसे पापनाश होता है—भले वह हँसीमें, भयसे, द्वेषसे ही लिया जाय। अनिच्छासे या मनको और बातोंमें लगाये रखकर भी यदि हम भोजन करते हैं तो भी उससे भूख तो मिट ही जाती है; इसी प्रकार अन्यमनस्क होकर भी नाम लेनेसे पाप-नाश हो ही जाता है। हाँ, जब हम पाप करके नामसे मिटा देनेकी भावना रखकर बार-बार नाम लेते और पाप करते रहेंगे तो एक नवीन अपराध बनता जायगा, जिसे 'नामापराध' कहते हैं। यह समस्त पापोंसे बढ़कर है। नामापराधसे छुटकारा भी तभी मिलता है, जब पापसे सर्वथा बचे रहने तथा भविष्यमें 'नामापराध' न करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा मनमें लेकर एकनिष्ठ होकर भगवन्नामोंका अधिकाधिक जप किया जाय; क्योंकि **'नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्।'** नामापराधका पाप भी नाम ही हरता है। शेष भगवत्कृपा।

कृपानुभूति

(१)

प्रभुकृपासे रोगमुक्ति

मैं मध्यप्रदेशके जिला दतियाका निवासी हूँ, मैं आपबीती एक घटना बता रहा हूँ। काफी समयसे मेरे गलेमें दर्द हो रहा था, मैं होम्योपैथिक एवं आयुर्वेदिक उपचार लेता रहा। डॉक्टरोंको दिखाया तो उन्होंने गलेमें एक गाँठ होना बताया, जिसका आपरेशन नितान्त आवश्यक था। इस बीच मैं अपने पुत्रके साथ एक सुप्रसिद्ध सन्तके दर्शनलाभके लिये उनके आश्रम गया। उस दिन उनके गुरुजीके वार्षिक श्राद्धका भण्डारा था। वहाँ वर्तमान महाराजने मुझे आशीर्वाद दिया। दूसरे दिन घर आकर मेरे साथ प्रभुकृपाका अद्‌भुत चमत्कार हुआ। मुँहसे २००-२५०ग्राम खून गिरा, मैं घबरा गया। मैंने प्रार्थना की, 'हे माँ! मैं बीमार रहकर जीवित नहीं रहना चाहता, मेरी प्रार्थना है कि इससे उचित यही होगा कि मेरी जीवन-लीला इसी समय समाप्त कर दो। मैं अपने जीवनसे सन्तुष्ट हूँ।' इतनेमें बहुत जोरसे खाँसी आयी और आपरेशनवाली गाँठ मुँहसे निकलकर बाहर जमीनपर आ गिरी अर्थात् माँकी प्रार्थनासे ही मेरा आपरेशन हो गया। डॉक्टरोंको दिखाया तो बताया गाँठ तो निकल गयी, पर जहाँ थी, वहाँ हलका-सा आपरेशन करा लें, अन्यथा दोबारा हो सकती है। मैं आलस कर गया, गाँठ दोबारा हो गयी। एक दिन मैं रास्तेमें कारमें बेहोश हो गया, लगभग ६०-६५ किलोमीटर दूरपर अस्पतालकी सुविधा थी, बेहोश स्थितिमें मेरा पुत्र अन्य रिश्तेदारोंके साथ मुझे ग्वालियर ले गया। वहाँ डॉक्टरने तत्काल आवश्यक उपचार किया तो मैं होशमें आ गया। बादमें लखनऊमें लेजर ऑपरेशन हुआ।

मेरा कहनेका अभिप्राय यह है कि बिना ऑपरेशन गाँठ निकल जाना चमत्कार है और उसी प्रकार ६०-६५ कि०मी० तक श्वास न ले पाने और बेहोश होनेपर भी मृत्युसे बचाकर चिकित्सा उपलब्ध कराकर जीवनदान मिलना दूसरा चमत्कार है। इसे मैं अपना पुनर्जन्म ही मानता हूँ। यह पुनर्जन्म पूर्णरूपसे दैवीय चमत्कारकी अनुभूति है। सन्तकृपा, माता-पिताका पुण्य-प्रताप और सुहृज्जनोंकी सद्‌भावनाओंके बलपर मुझे यह दूसरा जीवन मिला, क्योंकि ८० वर्षकी इस आयुमें यह सब सहन करनेकी क्षमता मुझमें नहीं थी, ऐसेमें मेरा जीवन साक्षात् प्रभुकृपाका ही परिणाम है। —**शिवचरण पाठक**

(२)

भगवान् वैद्यनाथकी कृपा

मेरी पत्नीकी छोटी बहनके पति सेनासे सेवानिवृत्त होकर बिलासपुर रेलवे जोनमें कार्यरत हैं। वे स्वयं तो भगवान् शिवके भक्त हैं ही, भगवान् शिवकी महिमाका वर्णन अपने कर्मचारी साथियोंसे भी करते रहते हैं। रेलवेमें उनके साथ कार्यरत उमेंदराम कैवर्त्य (केवट) इंजीनियरिंग विभागमें सुपरवाइजर हैं। उन्होंने भी बाबा वैद्यनाथकी महिमा सुनकर १५-७-२०१८ से २३-७-२०१८ तक काँवरिया यात्रामें सम्मिलित होकर भगवान् वैद्यनाथका दर्शन प्राप्त किया और तत्पश्चात् पुनः अपने रेलवे सेवाके कार्यमें संलग्न हो गये।

उमेंदराम २५जुलाई २०१८को पेण्ड्रा रोडसे ड्यूटीकर अजमेर-दुर्ग एक्सप्रेससे बिलासपुर जा रहे थे। उनका कार्यस्थान कलमीटार रेलवे स्टेशनपर है, अतः वे कलमीटार रेलवे स्टेशन उतरना चाहते थे, लेकिन अजमेर-दुर्ग एक्सप्रेस छोटा स्टेशन होनेके कारण वहाँ नहीं रुकती है। इसलिये वे बिलासपुर जानेके उद्‌देश्यसे ट्रेनमें बैठे थे। कलमीटार रेलवे स्टेशन पहुँचनेपर तकनीकी कारणोंसे गाड़ी अचानक धीमी हो गयी, तो उनके मनमें आया कि गाड़ी धीमी है, तो मैं कलमीटार स्टेशनपर उतर जाता हूँ। ऐसा सोचकर जल्दबाजीमें वे गाड़ीसे कूद गये, लेकिन गाड़ीकी तेज हवाके झोंकेसे उनका पैर प्लेटफार्मपर न पड़ा और वे पटरीके नीचे चले गये। इस हादसेको देखकर चैन खींचकर और लाल झण्डी दिखाकर गाड़ीको रोका गया। परंतु तबतक कई डिब्बे धड़धड़ाते हुए निकल गये। परंतु आश्चर्य! रेलवे सुरक्षाकर्मी जब उन्हें बचानेके लिये पहुँचे तो पटरीके नीचे पहुँचनेके बाद भी उमेंदराम पूर्णरूपसे सुरक्षित निकले, कहीं भी चोटका निशान भी नहीं लगा!

उमेंदराम आज भी अपनी सेवा रेलवेके बिलासपुर जोनमें दे रहे हैं। चलती रेलगाड़ीसे पटरीके नीचे पहुँचकर सकुशल बच जाना वे बाबा वैद्यनाथकी असीम कृपा ही मानते हैं। —**प्रवीण कुमार शर्मा**

पढ़ो, समझो और करो

(१)

मेहनतकी रोटी

बात पुरानी है। मेरे एक मित्र सूरत होकर धोलका आ रहे थे। गाँधीग्रामसे धोलका जानेवाले रेलवे-मार्गपर मेरिया नामक स्टेशन है। सर्दीके दिन थे। रात हो गयी थी। इस स्टेशनपर यात्री चाय पी सकें, इसलिये गाड़ी काफी समयतक ठहरी रहती है। जैसे ही गाड़ी स्टेशनपर रुकी, चाय और मूँगफली बेचनेवालोंकी आवाजें आने लगीं। अचानक इन लोगोंकी आवाजमें किसी वृद्धाकी आवाज भी सुनायी दी—'गठरी उठवानी है किसीको? किसीको मजदूर चाहिये?' यह अनोखी आवाज और वह भी एक वृद्धाके मुँहसे! भारी आश्चर्य। मेरा मित्र डिब्बेसे नीचे उतरा। उसने देखा एक वृद्धा लगभग पचहत्तर वर्षकी होगी। वह दोनों आँखोंसे अन्धी है। उसके पहनावेसे मालूम पड़ता था कि वह मध्यम श्रेणीकी है। मेरे मित्रको वृद्धाकी आवाज सुनकर शंका हुई, इसलिये उसने वृद्धासे पूछा—'माँजी क्या बेचती हो?'

'बेचती तो कुछ नहीं हूँ, भाई! मैं तो अगर किसीकी गठरी-पोटली उठाकर ले जानी हो तो मजदूरीके लिये आवाज लगा रही हूँ।' वृद्धाने कहा।

'लेकिन इस उमरमें? आँखोंसे दिखायी नहीं देता, फिर मजदूरीका काम क्यों कर रही हो? क्या कोई आगे-पीछे नहीं है?'—मित्रने उसकी पारिवारिक स्थिति जाननेके लिये प्रश्नोंकी झड़ी लगा दी।

'भैया! भगवान्‌के दिये हुए दो लड़के और उन लड़कोंके भी दो लड़के हैं। देखो, यह लकड़ी पकड़कर चलनेवाला बालक मेरे लड़केका बड़ा लड़का है। लड़कियाँ भी दो हैं। हमारा घर सुखी है।' वृद्धा कह रही थी। मित्रने अधीर होकर उसकी बात काटते हुए पूछा—'किंतु माँजी! इतनी सुखी हो तो फिर मजदूरी क्यों कर रही हो?'

'भैया! इसका जवाब मैं देती हूँ। लड़के और बहुएँ तो बहुत मना करती हैं, लेकिन बेकार बैठा नहीं जाता। जबतक हाथ-पाँव चलते हैं, तबतक अपनी ही मेहनतसे कमायी हुई रोटी खानी चाहिये।'

'लेकिन माँजी! आँखोंसे दीखता नहीं है—तब?'

'भैया! मेरी आँखें नहीं देखती हैं तो क्या हुआ; हाथ-पाँव तो चलते हैं। और फिर मेरी आँखें तो देख यह हैं।' कहकर वृद्धाने अपना हाथ उठाकर अपने नातीके सिरपर रखा। गाड़ीने सीटी दे दी। मेरा मित्र दौड़कर गाड़ीमें बैठ गया, पर उसका मन तथा आँखें उस वृद्धाकी ओर लगे थे। गाड़ी चली जा रही थी, पर मित्र सिरपर पोटली रखकर जाती हुई उस वृद्धाको बराबर देखता रहा।

—दीनानाथ जे० मेहता

(२)

कर्मफल एवं पुनर्जन्म

सत्य घटनापर आधारित यह वृतान्त कर्मफल एवं पुनर्जन्मका प्रतिपादक है, इसीलिये मैं इसे कल्याणके पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ—

बात सन् १९७१ ई० की है, जब मैंने विज्ञान महाविद्यालयमें जुलाई मासमें दाखिला लिया। हास्टलमें जगह न मिलनेपर मैं अपनी बुआके यहाँ आमापारा रायपुरमें रहने लगा। नवम्बर मासके प्रथम सप्ताहकी बात है, प्रात:काल बुआजी नलसे पानी लेकर आ रही थीं कि देखती हैं एक प्यारी-सी कुतियाकी बच्ची उनके पीछे-पीछे घर आ गयी और बाउन्ड्री पारकर घरके मुख्य द्वारके पास बैठ गयी। उसके शरीरपर काले एवं सफेद रंगकी धारियाँ थीं। अद्भुत आकर्षण था उसमें और वह सबके मनको मोह लेती थी। समयके साथ दूध-रोटी एवं चावल-दाल उसे मिलने लगा और वह प्रेमसे वहीं रह गयी। फिर कभी भी उसने अपनी माँकी सुध नहीं ली, वह दिनभर और रातमें भी अपने लिये निर्धारित बोरीपर बैठी रहती थी, कभी भी मैंने उसे बाहर जाते नहीं देखा, पर घरमें आने-जानेवालोंको प्यारसे देखती थी और प्रसन्न रहती थी। मैंने कभी भी उसे

भौंकते हुए नहीं सुना। उसने कभी संसर्ग-प्रजनन आदि नहीं किया तथा मांस-मछली आदि अभक्ष्य पदार्थोंको नहीं खाया। वह जब बच्ची थी तभी हम लोग जान गये थे कि यह साध्वी है, हमारी बुआका प्रेम उसे खींच लाया था। हमारी बुआ उसे बहुत प्यार करती थीं। मैं 'कल्याण' पत्रिकासे १९६८ ई० से जुड़ा था। अत: मैं प्राणियोंके रहस्यमय व्यवहारको कुछ-कुछ समझने लगा था। निकृष्ट योनिमें जन्म लेकर भी १. मांस-भक्षण न करना, २. प्रजनन नहीं करना, ३. कभी भी भौंकना नहीं, ४. प्रेमभावसे देखना, ५. हर वक्त चटाईपर बैठना—उस तमोगुणी योनिमें भी ये सब सात्त्विक गुण थे। मैंने बी०एस-सी० पास करके विज्ञान महाविद्यालय छोड़ दिया और ओरियण्ट पेपर मिल्स अमलाईमें सुपरवाइजर हो गया। जब मैं १९७५ ई० में छुट्टी लेकर रायपुर गया, तब बुआजीसे पूछा, 'हमारी प्यारी साध्वीजी कहाँ हैं?' तो उन्होंने बताया रायपुर नगर-निगमवालोंने प्रमादवश विषाक्त डबल-रोटी उसके पास फेंक दी, जिसे उसने खा लिया और स्वर्ग सिधार गयी। लगता है कि पिछले जन्ममें उसने कोई पाप किया होगा, जिसके कारण उसे निकृष्ट योनि मिली, परंतु उसने अच्छे कर्म भी अवश्य किये होंगे, अत: इस योनिमें भी वह सात्त्विक गुणोंसे सम्पन्न रही।

अपने कर्मोंको भोगनेके लिये ही प्राणी इस मृत्युलोकमें आते हैं और कर्म भोगकर चले जाते हैं, यह सत्य है।

—के० एल० कोसे

(३)

मोटापेको कम करनेके आयुर्वेदिक उपाय

मोटापा वर्तमान समयमें एक प्रमुख शारीरिक समस्या बनता जा रहा है। यह स्वयं तो शारीरिक विकृति है ही, साथ ही हृदयाघात-जैसे अनेक रोगोंका कारण भी है।

आयुर्वेदके ग्रन्थोंमें अनेक ऐसे सरल उपायोंका निर्देश है, जिनके सेवनसे मोटापा नहीं आता। यदि आ जाय तो वह कम हो जाता है। यथा—

(१) समयपर भोजन करें।
(२) भोजन करनेके बाद तुरंत जल न पियें।
(३) सभी प्रकारके पत्रशाकका प्रयोग करें।
(४) यव (जौ)-का भोजनमें प्रयोग करें।
(५) कुलत्थ, चना, मसूर, मूँग, अरहरकी दालका प्रयोग करें।
(६) उष्ण जलका प्रयोग करें।
(७) पुराने शहदका प्रयोग करें।
(८) सोंठके चूर्णका प्रयोग करें।
(९) मट्ठेका प्रयोग करें।
(१०) आमलकी चूर्णका प्रयोग करें।
(११) कम खाएँ।
(१२) व्यायाम करें।
(१३) शारीरिक परिश्रम करें।
(१४) रातमें अधिक देरतक न जगें।
(१५) प्रात: धूप-सेवन करें।
(१६) दिनमें न सोयें।
(१७) देरसे पचनेवाली एवं चिकनाईयुक्त वस्तुओंका सेवन न करें।

—प्रो० अनूपकुमार गक्खड़

(४)

बच्चोंमें भगवद्भाव जाग्रत् करनेकी अद्भुत शैली

मेरे ब्रह्मलीन पूज्य पिताजी बड़े धर्मानुरागी, नियमित रामायणपाठी, ईमानदार एवं 'सादा जीवन, उच्च विचार' वाले नेक इन्सान थे। उनका हृदय सदैव दीन-दुखियोंकी सेवाके लिये द्रवित एवं आतुर रहता था। वे गुप्त रूपसे उनकी सेवाके लिये सदैव तत्पर रहते थे। प्राय: प्रात:काल 'रोज लक्ष्मीनाथ-मन्दिर जाना', उनका अटूट नियम था—नित्यकर्म था, जिसे वे बखूबी निभाते थे। उस समय मेरी उम्र ४-५ सालके करीब रही होगी। घर-परिवारमें सबसे छोटा बच्चा होनेके कारण वे मुझसे बहुत स्नेह करते थे। एक दिन स्नान आदिसे निवृत्त होकर उन्होंने अपने साथ मुझे मन्दिर चलनेके लिये कहा। मेरा अबोध बाल हृदय 'मन्दिर' क्या जाने? मैंने साफ-साफ

कह दिया—मुझे मन्दिर नहीं जाना, आप जाओ। मैं अन्य बच्चोंके साथ खेलूँगा। वे भी मुझे जबरदस्ती नहीं ले जाना चाहते थे। उन्हें एक उपाय सूझा; बोले—देखो, अगर तुम मन्दिर चलोगे तो तुम्हें एक 'घोटुँवा' (जैसलमेर, राजस्थानका सुस्वादिष्ट ख्यातिलब्ध लड्डू, जिसे स्थानीय भाषामें घोटुँवा कहते हैं) दिलाऊँगा। मेरा बाल-हृदय घोटुँवा के लिये ललचा उठा। मैं दूसरे दिन प्रात: शीघ्र सात बजे ही स्नान आदिसे निवृत्त होकर मन्दिर जानेके लिये तैयार हो गया और पिताजीसे तुरंत मन्दिर चलनेके लिये आग्रह करने लगा। किंतु पिताजीने इतनी सुबहमें स्नान आदि नहीं किया था। मैं 'घोटुँवा' के लालचमें सुबह शीघ्र तैयार हो गया था। वे मुझसे बोले—मैंने तो अभी स्नान नहीं किया है।

'यह आपकी गलती है'—उलाहना देते हुए प्रत्युत्तरमें मैंने झटसे उनसे कहा। पिताजी कुछ नहीं बोले, वे मन्द-मन्द मुसकराये—मानो मन-ही-मन कह रहे थे—बेटा, तू लड्डूके लालचमें इतना जल्दी तैयार हो गया।

हम मन्दिर गये, जो घाटी-मार्गके पार ऊँचाईपर स्थित है। दर्शन-वापसीपर उन्होंने मुझे हलवाईसे एक 'घोटुँवा' दिलवा दिया। यह क्रम निर्विघ्न कुछ दिनतक चलता रहा। इस नियमितताका आधार 'घोटुँवा-लड्डू' था।

कुछ दिनोंके पश्चात् मुझे लगने लगा कि एक घोटुँवाकी मात्रा कम है, कम-से-कम दो 'घोटुँवे' तो मिलने ही चाहिये। यह बात प्रत्यक्ष रूपसे मैंने पिताजीसे कभी नहीं की। लेकिन 'जहाँ चाह, वहाँ राह' के सिद्धान्तानुसार सर्वान्तर्यामी प्रभुने मेरे अन्तर्मनकी बात जान ली। संयोगवश प्रभु-प्रेरणासे उनके मनमें एक विचार आया और उन्होंने मुझसे पूछ ही लिया—क्या तुम्हें दो 'घोटुँवे' चाहिये? 'हाँ-हाँ, मुझे पूरे दो लड्डू चाहिये'—मैंने प्रत्युत्तरमें कहा।

इसके लिये तुम्हें एक काम करना होगा—दर्शनोपरान्त मन्दिरमें विराजमान प्रभुकी मूर्तिके सन्दर्भमें मेरे द्वारा पूछे गये प्रश्नोंका सही-सही उत्तर देना होगा—पिताजीने कहा।

मैंने जिज्ञासावश उनसे पूछा—कैसे होंगे आपके प्रश्न?

पिताजी बोले—यही कि भगवान्के क्या परिधान हैं? कैसा शृंगार है? क्या स्वरूप है? आदि-आदि। मैं भी सहमत हो गया।

अगले दिनसे मैं जैसे ही मुख्य मन्दिरमें प्रवेश करता, अपलक एकटक टकटकी लगाकर प्रभुको निहारता रहता—कारण, मुझे पिताजीद्वारा पूछे गये पूरे प्रश्नोंका सही-सही उत्तर देना है और दो लड्डू प्राप्त करने हैं।

दर्शनके पश्चात् मन्दिरसे बाहर निकलनेपर पिताजी मेरी बाल-बुद्धिके अनुसार सवाल पूछते कि भगवान्के 'बागे' (वस्त्रों)-का क्या रंग है? शृंगारमें क्या आभूषण धराये गये हैं?

'राम अथवा कृष्णका अवतार है?'—यह प्रश्न मुझे समझमें आ जाय। इसलिये सीधे-सीधे सरल शब्दोंमें पूछते कि भगवान्के हाथोंमें 'धनुष-बाण' है अथवा 'मुरली'? आदि-आदि।

मैं भी सहजतापूर्वक उनके सभी प्रश्नोंके ठीक-ठीक उत्तर दे देता। वे बड़े प्रसन्न होते और घाटी ढलते-ढलते, नीचे बाजारमें पहुँचते ही वे मुझे दो लड्डू दिलवा देते। यह क्रम निरन्तर चलता रहा। वाह! अबोध बच्चोंमें भगवद्भाव पैदा करनेकी उनकी अद्‍भुत शैलीको मेरा कोटि-कोटि वन्दन!

·····अतीतका यह सुप्रसंग यदा-कदा मुझे स्मरण हो आनेपर मेरा मन विभोर हो उठता है, हृदय गद्‍गद होने लगता है, गला भर आता है। चक्षुओंसे श्रद्धा-सुमनरूपा एक अत्यन्त सुखदायी अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है, उस महान् व्यक्तित्वको नमन करनेके लिये····· एक आदरांजलि देनेके लिये।

उनसे मिली 'गागरमें सागर' भरनेवाली इस विशिष्ट पावन प्रेरणाका अनुसरण मैं भी आज अपने नन्हे पोते-पोतियोंको चॉकलेट/आइसक्रीम/टाफीका लालच देकर बड़े प्यारसे उनमें ईश्वरानुराग पैदा करनेकी अपनी अभिलाषाको मूर्तरूप देने (साकार करने)-के एक छोटे-से प्रयासके रूपमें करता रहता हूँ।—**राधेश्याम चाँडक**

मनन करने योग्य

पारससे अधिक मूल्यवान्—श्रीकृष्ण-नाम

'तुम वृन्दावनमें श्रीसनातन गोस्वामीके पास जाओ! उनके समीप पारस है और वे तुम्हें दे देंगे।' स्वप्नमें भगवान् शंकरने दर्शन देकर यह आदेश किया।

गौड़ देशके बर्दवानका वह ब्राह्मण निर्धन था, दरिद्रताने दुखी किया था उसे। जहाँ हाथ फैलाये, वहीं तिरस्कार मिले। शास्त्रज्ञ, स्वाभिमानी ब्राह्मण—उसने संकल्प किया कि जिस थोड़े-से स्वर्णपर संसारके धनी फूले फिरते हैं, उस स्वर्णको वह मूल्यहीन करके धर देगा। ढेरियाँ लगा देगा स्वर्णकी। पारस प्राप्त करेगा वह।

पारस कहाँ मिलेगा? ढूँढ़नेसे तो वह मिलनेसे रहा। देगा कौन उसे? लक्ष्मीके किंकर देवता क्या पारस दे सकेंगे? ब्राह्मणने भगवान् आशुतोषकी शरण ग्रहण की। जो विश्वको विभूति देकर स्वयं भस्मांगराग लगाते हैं, वे कपाली ही कृपा करें तो पारस प्राप्त हो। कठिन व्रत, निरन्तर पंचाक्षर जप, दृढ़ रुद्रार्चन-निष्ठा—भगवान् त्रिलोचन कबतक संतुष्ट नहीं होते। ब्राह्मणकी बारह वर्षकी उत्कट तपस्या सफल हुई। भगवान् शिवने स्वप्नमें दर्शन दिया।

'सनातन गोस्वामीके पास पारस है? वे दे देंगे उस महान् रत्नको?' ब्राह्मणको मार्गका कष्ट प्रतीत ही नहीं हो रहा था। 'भगवान्ने कहा है तो अवश्य दे देंगे।' यही विश्वास उसे लिये जा रहा था।

'आपके पास पारस है?' वृन्दावनमें पूछनेपर लोगोंने कहा वृक्षके नीचे रहनेवाले कृशकाय करवा-कौपीनधारी, गुदड़ी रखनेवाले एक साधुके पास जानेको, तो वह बहुत निराश हुआ। 'ये कंगाल सनातन गोस्वामी!' ऐसे व्यक्तिके पास पारस होनेकी किसे आशा होगी। लेकिन यहाँतक आया था तो पूछ लेना उचित लगा।

'मेरे पास तो नहीं है। मैं उसका क्या करता!' सनातनजीने कह दिया। 'एक दिन श्रीयमुना-स्नानको जा रहा था तो पैरोंसे टकरा गया। मैंने उसे वहीं रेतसे ढक दिया, जिससे किसी दिन स्नान करके लौटते छू न जाय। उसे छूकर तो फिर स्नान करना पड़ता। तुम्हें चाहिये तो वहाँसे निकाल लो।'

स्थान बता दिया गया था। रेत हटानेपर पारस मिल भी गया। परीक्षा करनेके लिये लोहेका टुकड़ा पहलेसे साथ लाया था ब्राह्मण! वह पारससे स्पर्श करानेपर स्वर्ण हो गया। पारस ठीक मिल गया। ब्राह्मण लौट पड़ा; किंतु शीघ्र ही चित्तने कहा—'उन संतको तो यह प्राप्त ही था। वे कहते हैं कि यह छू जाय तो उन्हें स्नान करना पड़े।'

'आपको अवश्य इस पारससे अधिक मूल्यवान् वस्तु प्राप्त है।' ब्राह्मण लौट आया सनातनजीके पास।

'प्राप्त तो है!' सनातन अस्वीकार कैसे कर देते।

'मुझे वही प्रदान करनेकी कृपा करें!' ब्राह्मणने प्रार्थना की।

'उसकी प्राप्तिसे पूर्व पारसको यमुनामें फेंकना पड़ेगा।' सनातनजीने कहा।

'यह गया पारस!' ब्राह्मणने पूरी शक्तिसे उसे यमुनाके प्रवाहमें फेंक दिया। भगवान् शिवकी दीर्घकालीन उपासनासे उसका चित्त शुद्ध हो चुका था। संतके दर्शनने हृदयको निर्मल कर दिया था। अधिकारी बन गया था वह। सनातन गोस्वामीने उसे श्रीकृष्ण-नामकी दीक्षा दी—वह श्रीकृष्ण-नाम, जिसकी कृपाका कण कोटि-कोटि पारसका सृजन करता है।

श्रद्धाञ्जलि

कल्याणके यशस्वी सम्पादक **श्रीराधेश्यामजी खेमका** भौतिक रूपसे आज हमारे बीच नहीं हैं। गीताप्रेस-गोरखपुरके संस्थापक—**ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका** एवं 'कल्याण'के आदिसम्पादक—**नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार**द्वारा सन् १९२३ ई०में रोपित संस्थारूपी पौधा अब जैसे वटवृक्षका रूप ले चुका है। यह संस्था अपने विशिष्ट सिद्धान्तोंपर अडिग रहती हुई आज जो उत्तरोत्तर प्रगतिके पथपर दृढ़तासे अग्रसर होती जा रही है तो उसका बहुत कुछ श्रेय गत ३८ वर्षोंसे 'कल्याण'के प्रधान सम्पादकके गुरुतर दायित्वका दक्षतापूर्वक निर्वाह करनेवाले श्रीराधेश्यामजी खेमकाको भी जाता है। आप 'कल्याण'के प्रधान सम्पादक ही नहीं, अपितु अगस्त २०१४ ई० से गीताप्रेस ट्रस्ट-बोर्डके अध्यक्ष भी थे। अपनी दूरदृष्टि और सबको साथ लेकर चलनेकी प्रवृत्तिसे आपने इस संस्थाको वर्तमान ऊँचाइयोंतक पहुँचाया।

श्रीराधेश्यामजी खेमकाका जन्म १९३५ ई० में बिहारके मुंगेर जिलेमें एक धर्मनिष्ठ मारवाड़ी परिवारमें हुआ था। किशोरावस्थातक आपकी शिक्षा-दीक्षा मुंगेरमें ही हुई, फिर उच्च शिक्षाके निमित्त उनका परिवार १९५६ ई० में स्थायी रूपसे काशीमें निवास करने लगा। पिताजीकी धार्मिक प्रवृत्तिके कारण संतोंका सान्निध्य तो सदैव इन्हें मिलता ही था, काशी आनेपर यह और भी अधिक सुगम हो गया। कुलपरम्परागत शिखा, सूत्र, सन्ध्या, बलिवैश्वदेव, श्राद्ध, संतसेवा, गुरुजनोंका आदर, गोसेवा तथा सदाचरणपूर्वक अपने कर्तव्योंका पालन आपके स्वाभाविक गुण रहे। विपरीत परिस्थितियोंमें भी धैर्यपूर्वक उनके समाधानका प्रयास करना तथा विरोधीपर भी क्रोध न करनेका गुण आपके व्यक्तित्वका विशिष्ट पक्ष था। अथर्ववेदकी इस प्रार्थनाको उन्होंने जैसे अपने व्यक्तित्वमें समाहित ही कर लिया था—***मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्। वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः॥*** अर्थात् 'मेरा जाना मधुरतासे युक्त हो। मेरा आना माधुर्यमय हो। मैं मधुर वाणी बोलूँ और मैं मधुर आकृतिवाला हो जाऊँ।'

उन्हें मोक्षदायिनी काशीपुरीकी महिमा और यहाँ मरणके बाद मुक्तिके शास्त्रीय सिद्धान्त—'**काश्यां मरणान्मुक्तिः**'में अत्यन्त दृढ़ निष्ठा थी। काशीमें भी केदारखण्डमें मुक्ति सर्वश्रेष्ठ कही जाती है, सो वे रात्रि-विश्राम आदि केदारखण्डमें गंगातटस्थित अपने आवासमें ही करते थे। वृद्धावस्थामें भी वे प्रायः स्वस्थ थे। शिवरात्रिके बाद उन्हें हृदयाघात हुआ, अल्पावधिकी रुग्णताके उपरान्त वि०सं० २०७७ चैत्र कृष्ण सप्तमी, शनिवार (तदनुसार ३ अप्रैल २०२१ ई०)-के दिन भगवान् सदाशिवने भी उनकी भावनाको स्वीकारकर कृपापूर्वक उन्हें परममुक्ति प्रदान की और वे केदारखण्डमें भगवत्स्मरण करते हुए शिवसायुज्यको प्राप्त हो गये।

वे भौतिक रूपसे तो आज हमारे बीच नहीं हैं, परंतु उन्होंने गीताप्रेस—कल्याण इत्यादिके माध्यमसे जो महान् सेवा-कार्य किया, वह उनके जीवन-वृत्तके गौरवपूर्ण अध्यायके रूपमें स्मरण किया जाता रहेगा। उनका यशःशरीर सदैव अमर रहेगा।

—समस्त गीताप्रेस परिवार

प्र० ति० 20-04-2021
रजि० समाचारपत्र—रजि०नं० 2308/57 पंजीकृत संख्या—NP/GR–13/2020–2022

LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT	LICENCE No. WPP/GR–03/2020–2022